Digitized by eGangotri

आँधी के पत्ते

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

Aandi ka pta.

आँधी के पत्ते

Sri Pratap Singh
Library
Srinagar.

श्रीआरसीप्रसादसिंह
Aarsiparsad singh.

Rajeev

तारामण्डल
मुजफ्फरपुर
Tara mandal. Muzaffarpur

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

प्रकाशक—
श्रीयुगलकिशोरझा
तारामण्डल,
मुजफ्फरपुर।

acc: no: 15668
Rs 1-5-0
125

Sri Pratap Singh
Library
Srinagar.

प्रथम संस्करण
मूल्य सवा रुपये

मुद्रक
वीरबल सिंह
ए० बोस प्रेस,
मोतीझील–मुजफ्फरपुर।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

भूमिका

'आँधी के पत्ते' मेरी उन कहानियों का संग्रह है, जिनके अन्तर्विषय ने सर्व-प्रथम मेरे कवि-हृदय के तारों को भी झंकृत किया था। प्रारम्भ की तीन कहानियाँ इसका उदाहरण हैं। शेष दोनों कहानियाँ इनसे भिन्न हैं। यह भिन्नता मूल प्रकृति की ही हैं—बाहर आकर वे एक दूसरे से मिलती-जुलती-सी हो गयी हैं। जिस वर्ग में शुरू की तीन कहानियाँ हैं, उसमें कुछ और ज्यादा काम न हो सका। फिर भी उम्मीद है कि अपनी कुछ कविताओं के पीछे जो उनका एक सजग, चेतन और मूर्त्त रूप है, उसको किसी दूसरी प्रकार से स्पष्ट करूँ, प्रकाश दूँ। यद्यपि यह स्पष्टीकरण कुछ वैसा ही होगा, जैसा किसी जलते हुए दीपक को दिन के प्रकाश में रख देना। परन्तु, कभी-कभी इस तरह के कामों में भी बड़ा मजा है।

श्री आरसीप्रसाद सिंह

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सूची

क्रमांक	कहानियों के शीर्षक	पृष्ठ
१	कलापी	१
२	तितली	१७
३	छिन्नमाल	४१
४	"तुम्हारे बिना…"	५४
५	दण्ड	७५

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

कलापी

प्रथम-प्रथम जब मैंने उसे देखा, तब मैं किसी का अतिथि था।

मेरा शिशु चाँद के लिए मचलना, रोना और तड़पना छोड़ चुका था और अब घर के आँगन में दो-चार केले और नींबू के पेड़ लग चुके थे।

कोयल और तितली मेरे बाल्यकाल की सखियाँ रह चुकी हैं और अनेक बर्षों तक जिन्दगी के हर एक खेलों में इन्होंने मेरे साथ साहचर्य किया है।

परन्तु उस दिन जब मेरे साथियों की संख्या में एक व्यक्ति की और वृद्धि हुई तब मैं फूला नहीं समाया।

अगर कोई मुझसे किसी ऐसे प्राणी का नाम लेने को कहे, जो संसार की सुन्दरतम कृति हो, तो मैं निःसन्देह-निःसंकोच कहूँगा—तितली।

यदि दूसरी बार भी मुझसे यही सवाल किया गया, तो मैं पुकारूँगा—कलापी।

और, अगर प्रश्नकर्ता ने तीसरी दफे भी मुझे इसका उत्तर देने के लिये बाध्य किया, तो मैं उसके दोनों गालों पर प्रेम का एक-एक आघात देकर चिल्ला उठूँगा—मूर्ख!

तो उस वक्त मेरे दिमाग में ये तथा इनके सिवा कुछ ऐसी ही

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

चीजों की तस्वीरें थीं—जैसे कुछ फूल, कुछ पेड़, कुछ पत्तियाँ; आदि-आदि।

यह तब की बात है, जब मेरी उम्र इकाई की चहारदीवारी से कुछ ही कदम आगे बढ़ पायी थी और जवानी का दरवाजा तो तब भी बहुत दूर था।

मैं परिवार से विलग हो, अपने एक निकट के कुटुम्ब के घर पर, अभ्यागतरूप में निवास कर रहा था।

वह भी था देहात ही।

गाँव में एक राजा का घर था।

जिस मकान में मेरा डेरा था, वहाँ से राजा का घर बिलकुल नजदीक था। जिस दालान में प्रायः मैं खेलता, वहाँ से राजमहल का सम्पूर्ण भाग साफ-साफ दिखलायी पड़ता और जिस कोठरी में ज्यादातर मैं बैठता, वहाँ से भवन का कोई भी दृश्य अपने को अदृश्य नहीं रख सकता।

तब मैं एक ऐसा तोता था, जिसने कभी मिडिल के दायरे से बाहर पैर नहीं रक्खा और जो, अपने उसी पिंजड़े में बैठा-बैठा दिनरात अपना पाठ रटता रहता।

और, जिसके सामने कुछ गिने हुए विषय होते, कुछ चुनी हुई बातें होतीं और एक होता पढ़ानेवाला।

बस।

मैं, यों ही, कुछ उलझे हुए तरीकों से कुछ सुलझी हुई चीजों को ठीक रास्ते पर लाने की कोशिश करता; और जब वे चीजें मेरे हाथों से बरफ की तरह फिसल-फिसलकर नीचे गिरने लगतीं, तो मैं उन्हें पटककर भाग खड़ा होता—अपने दोस्तों के पीछे !

और, प्रायः प्रत्येक दिन सूर्यास्त के समय मैं देखता कि राजमहल का सर्वोच्च शिखर किसी अद्भुत जीवधारी की उन्मत्त नृत्य-लीला से विलास-चंचल हो उठा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

राजा का पालतू प्राणी—वह उसीमें रहता।

महल के ऊँचे कँगूरे पर, धरातल से कई सौ फीट दूर, अंतरिक्ष के चरणों को छूता-सा उसका निवास मेरे-जैसे नौसिखिये खिलाड़ियों के लिए प्रलोभन की वस्तु था।

और, मैं अपने कमरे की खुली खिड़की से घण्टों उसका मुग्ध लास्य-नृत्य अतृप्त-लोचनों से देखता रहता; परन्तु मन तृप्त नहीं होता, आँखें शिथिल नहीं होतीं और न होते प्राण ही संतुष्ट।

संध्याकाल समीप आते ही, जब मरीचिमाली पश्चिम-क्षितिज पर केवल एक मात्रावशेष के रूप में रह जाता, राज-प्रासाद का सर्वश्रेष्ठ शिखर, एक ही पक्ष के कारण अलका का आकार धारण कर लेता और सांध्य-सूर्य की अन्तिम किरणें शत-शत नील-लोहित रेखाओं से उस चित्र-विचित्रित नर्त्तक के अनुरंजित कंचन-पुच्छ के तार-तार को भर देतीं।

वह अविराम नाचता और मैं मुग्ध विस्मित दृष्टि से अपलक उसकी ओर देखता रहता।

रजनी का अंधकार क्रमशः पृथ्वी के अनन्त वक्षःस्थल पर फैलने लगता, समस्त संसार निद्रा के आवेग से एक विचित्र तमिस्रा के अंचल में लघु-वय बालक-सा झुक-झुककर गिरने लगता।

और, निशीथ के कृष्ण-समुद्र से एक कदाकार दानव निकलकर अपने दोनों भुज-पाशों में आकाश से पाताल तक सारे भूमण्डल को आबद्ध कर लेता।

परन्तु, उसके नृत्य का अन्त नहीं।

ज्यों ही मेरे दृष्टि-पथ के सम्मुख तम का विभेद पत्थर की दीवार बनकर खड़ा हो जाता; त्यों ही स्मृति की तरु-वीथियों में उस विश्व-विमोहन कलाकार का अशेष नृत्य आरम्भ होता।

और, मेरे स्वप्नों के देश में वह विचरण करता जादूगर की तरह अपने कौशल से एक मनोहर जगत् का निर्माण कर!

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मैं सोचता, क्या कभी ऐसा अवसर भी आ सकता है, जब वह अपने व्योम-सौध से नीचे उतर-कर मेरे साथ नाचे !

लेकिन, मेरी इस आशा के तरुवर में फल-फूल तो कहाँ से— पत्तियाँ भी नहीं निकलीं !

भूमा की वायु सम्भवतः उसे नापसन्द थी, और इसीलिए शायद, वह कभी भूतल पर उतरा भी नहीं ।

मैंने एक दिन अपनी विस्मित-वाणी में शैशव की सारी सरलता भरकर पूछा—'भैया, वह कौन है ?'

'मयूर'—उत्तर मिला ।

मुझे नख से शिख तक विस्मित करने के लिये यह एक ही शब्द यथेष्ट था । अधिक व्याख्या की न तो वहाँ आवश्यकता थी और न उपयोगिता; क्योंकि, उसका तात्पर्य समझना भी तत्काल मेरे लिए कठिन ही नहीं, असम्भव-सा था ।

और, उस दिन से उसके ताल-युक्त चरण-निक्षेप में अपनी प्रति-पद-गति मिलाकर नाचना मेरे अनेक व्यसनों में शामिल हो गया ।

गुरुजन हँसते, मित्र-मण्डली चिढ़ाती; मगर, मैं तो उसके खूब-सूरत परों पर बेमोल बिक चुका था ।

इतना सौन्दर्य था उसमें !

और, इस प्रकार देखते-सुनते सप्ताहों का एक सम्पूर्ण नक्षत्र-मण्डल मेरे नेत्रों के सम्मुख से अन्तर्धान हो गया ।

आषाढ़ का प्रथम-दिवस ।

विरही-यक्ष का चिर-नूतन सन्देश लेकर पवन-वाहन जीमूतों का अशेष समुदाय कैलास-शिखर की ओर द्रुत-वेग से प्रस्थान कर चुका था ।

वर्षा-ऋतु का वह मनोरम प्रभात; मैं अपनी कोठरी में उन्मन-सा बैठा, एक स्कूली किताब को उलट-पलट रहा और उस बेमतलब के पाठ को जबरदस्ती गले से नीचे उतारने का असफल प्रयत्न कर रहा था ।

इतने में हवा का एक झोंका उन्मत्त के समान आया और अशान्त

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

विद्रोही की तरह मेरे कमरे में बलात् घुस गया।

कोठरी की, काँच की दोनों खिड़कियों के पल्ले एकबारगी, दुःस्वप्न-चकित लोचनों के समान उस उद्दण्ड आघात से फटाफट खुल पड़े और सड़क की सेरों धूल, मिट्टी और गर्द मेरी आँखों में, शरीर पर, कपड़े-लत्तों पर उसी तरह भर गये, जिस तरह फसल के दिनों में अनाज के बोझों से किसानों के खलिहान और घर, दोनों भर जाते।

और किसी निराश प्रेमी के हृदय की नाईं, मेज पर रक्खी, सजी-सजाई मेरी कोर्स की कुल किताबों के पन्ने फटकर, टूटकर कमरे-भर में बिखर गये।

उसी समय सहसा किसी की कर्कश-ध्वनि मेरे कानों के पर्दों को छेदकर कलेजे तक पहुँच गयी।

मैं अस्त-व्यस्त होकर भागा घर से बाहर की तरफ।

देखा, मेघ के दुर्लंध्य कारागार में बैठकर कोई रूपसी रो रही है और उसकी अश्रु-धारा में समस्त संसार आप्लावित होना चाहता है।

यह भी देखा कि उस अपरूप सुन्दरी के कुन्तलजाल वृक्षों और अट्टालिकाओं के समुन्नत भाल को विचुम्बित-सा कर रहे हैं और उस अनिंद्य वातावरण में एक सजल सुकुमार सृष्टि का निर्माण हो गया है—रिमझिम, रिमझिम।

और, मैंने यह भी देखा कि मेरा वह बाल्यसखा—

मेरा वह चिर-परिचित बाल्य-सखा मेघों की उस हृदय स्पर्शिनी छाया में अविराम-आवेग से नृत्य कर रहा है।

नृत्य कर रहा है, वहीं।

मुझे ऐसा आभास हुआ, मानों, बादलों का सारा देश ही किसी अज्ञात-शक्ति की प्रेरणा से, पिघलकर, गलकर, ठोस बनकर, अपने इन्द्र-धनुष के कण्ठतार और चपला के वलय-विभूषण-समेत हमारी आँखों को धोखा देने के लिये कलापी के रूप में आविर्भूत हो गया।

कालिदास का मेघदूत तो बहुत पीछे पड़ा; परन्तु, यदि उस वक्त

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मैं कविता लिख सकता, प्रकृति की उस प्राणोन्मादिनी सुन्दरता को छन्दों का आकार दे सकता, तो, निःसन्देह मेरा वह काव्य मेघदूत से कहीं बढ़कर सुन्दर, सरस और सुकुमार होता।

मेरा यह दर्प निराधार नहीं—यह बात कुटिलाक्ष समालोचकों के मस्तक में कील ठोंककर कहने की जरूरत है।

मगर, एक-से दिन किसके रहे हैं सदा ?

यह दुनिया की अजीब नहीं;—पर, सजीव, मानी, बहुत पुरानी और जानी हुई बात है !

सो, एक दिन मेरी भी वह वसन्त-तन्द्रा टूट गयी, जिससे मैं आठों-पहर बेपिये-ही अलमस्त रहा करता था ;

और, जब आँखें खुलीं—तब मेरे आगे अपना वही गाँव था, वही मकान थे, वही संगी-साथी और, एक वह भी.......

वह थी मेरी सहचरी।

तितली का चांचल्य, कलापी का सौन्दर्य और कोकिला का कण्ठ; तीनों उसकी मानव-प्रतिभा में एकत्र सम्मिश्रित हो गये थे, अपनी पुञ्जीभूत सुषमा से।

मैं उसका पुजारी था।

पावस की मेघ-माला उमड़ती, रिमझिम-रिमझिम बूँदें पड़ने लगतीं, वर्षा के तार से आकाश से पाताल तक का वायु-मण्डल एकाकार हो जाता;

रसालों की डालियों में हिन्दोल लग जाते और जब झूले की रसदार पेंगों पर जोर लगाते हुए किसी मनचले की दर्द भरी आवाज पुकार उठती—"शिखिनि शिखर चढ़ि शोर मचायो; विरहिनि सावधान ह्वै रहियो, सजि पावस-घन आयो।" तब मैं माँ की मीठी गोद का स्वर्गीय 'आनन्द छोड़ और पिताजी के कठोर शासन का बन्धन तोड़ आम्र-कानन की ओर दौड़ पड़ता !

कुञ्ज से कोयल बोलती—'कू-ऊ-ऊ !' और वह खिसककर मेरे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पास आ जाती, देह से देह सटाकर खड़ी हो जाती और मैं मीठे-पके फलों से उसके गीले अंचल को भरपूर भरकर कहता—'जा, अब चली जा !' और वह उस सिसकती-सी वर्षा-संध्या में भीगती हुई घर लौट जाती।

उसकी वह रसीली-लजीली चितवन !

धीरे-धीरे मेरे दिन भी बीतने लगे, जैसे सबके बीतते।

दुनिया जिसे तरक्की कहती, मैं उसी तरफ अपने कमजोर पैरों को बढ़ाता चला जा रहा था।

और, एक-एक कदम पर रुकता हुआ मैं किसी तरह स्कूल के क़ैदखाने से छुट्टी पाकर कालेज की सराय में पहुँच गया।

एक दिन अकस्मात आँधी आयी और उस दिन जो मेरे अध्ययन की रेलगाड़ी पटरी से फिसलकर नीचे उतरी, तो फिर खाई में गिरकर चूर-चूर ही हो गयी।

मैं ठहर कर कुछ सोचने लगा।

तब तक मेरे बचपन की फुलवाड़ी बिलकुल उजड़ चुकी थी और उसकी जगह जवानी के तीर पर, एक नया संसार बस चुका था।

शैशव की मदहोश दुनिया में मिट्टी के जो घरौंदे बने थे, वे समय की रगड़ से एक दिन आप ही आप घिसकर टूट गये और अब उमंगों की हाट में सोने-चाँदी का बाजार लग रहा था।

जिन्दगी का प्याला जवानी की अंगूरी शराब से लबालब भरा था कि—कोई आये और पीकर झूम जाये !

और, मेरी झोली में भरे थे अंगूर के अरमान, सन्तरे की इच्छाएँ और सेब की चाहें।

अपने हृदय के इस मधुर-भार से मैं विनत होकर चल रहा था।

मिथिला की शस्य-श्यामला तपोभूमि में उस भुवन-मोहन वन-चारी के दर्शन नहीं हुये; और मेरे नेत्रों में वह नैसर्गिक ज्योति एक अमूर्त पिपासा भरकर ही रह गयी।

इतने रोज मैं बेहोश था।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

एक दिन छोटानागपुर के जंगलों में मेरे होश के पर लगे।

यह वही स्थान है, जहाँ मेघ के जरा-से इशारे पर एक मोर की कौन कहे—लाख-लाख मोर एक साथ नाच उठते।

सचमुच वह दिन बड़ा मनहूस रहा होगा, जिस दिन पलामू की कोई उदास दोपहरी मेरे स्वागत में फीकी हँसी हँसकर रह गयी।

जिस बँगले में मैं ठहरा था, वहाँ से कोयल का किनारा बहुत नजदीक था और मैं रोज शाम के वक्त नदी की साफ हवा में थोड़ी देर टहलने के लिए जरूर जाता।

महज तन्दुरुस्ती के ख्याल से, सौ काम और हजार झंझटों को छोड़कर !

इस पथरीली जमीन की आबोहवा में एक खास बात है। और, वह यह कि यहाँ अबलाओं के आँसू की तरह न पानी आते देर और न चंदे के रुपये की तरह उसे बन्द होते विलम्ब।

किसी कोने से जरा-सी घटा उठी, किसी तरफ से जरा-सी हवा चली और फिर तो वर्षा होने लगी।

और, क्षण ही भर में जब मेघों का मिजाज ठीक हो गया, तब ओसकणों में लिपटी हुई गुलाब की पंखुड़ियों के समान प्रकृति-सुन्दरी मुस्करा उठी।

आसमान साफ हो गया। सूरज भी निकल आया और बादलों के घूँघट को भेदकर धूप की चकमकाहट ने सारे पानी को तुरन्त भाप बनाकर उड़ा दिया।

जो जल शेष बचा, उसे भागकर छोटे-छोटे तालाब-गड़हों की शरण लेनी पड़ी।

सो, उस दिन ज्यों ही मैं घूम-फिरकर मकान की तरफ वापस चला, त्यों ही बीच डगर में ही घनश्याम ने छेड़-छाड़ शुरू की; बादल घिर आये और रस की बूँदें चूने लगीं—टपाटप-टपटप !

संध्या का अंधकार पृथ्वी पर उतरकर घनीभूत हो गया था और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मैं अकेला उस तरुण-तिमिर में बाजार की टेढ़ी-मेढ़ी सड़कों, तंग गलियों और चक्करदार पगडंडियों को पार करता हुआ तेजी से बढ़ा आ रहा था।

कि, बीच राह में ही बादलों से मुठभेड़ हो गयी।

छाता पास था नहीं और इसका परिणाम यह हुआ कि मैं भीगने लगा।

लाचार, मुझे रास्ते के बिलकुल सटे, किनारे ही, बगल के एक मकान में प्रवेश करने के लिये बाध्य होना पड़ा।

और, इसके दूसरे ही क्षण मैं उसके द्वार पर उपस्थित।

उस भवन को मैं पहचानता था और उसके निवासी मेरे अ-परिचित नहीं थे, किन्तु वह समय ही कुछ ऐसा था कि मैं गृह के किसी सदस्य को अपने हठात् आगमन की सूचना दिये बिना ही, केशपाशों से बेतरह उलझे हुये मोतियों की बेतरतीब माला को निचोड़, रुमाल से मुँह पोंछकर बाहर बरामदे में पड़ी एक कुरसी पर लद गया।

इतने में सहसा, भीतर से, 'मेघा-राजा पानी दे' की अनेकावृत्ति करती, धूम मचाती, उछलती-कूदती एक लड़की निकली; मुझे देखकर जरा ठिठकी और फिर अपनी उसी मदहोश चाल में इठलाकर, इतराकर, कतराकर आगे बढ़ गयी।

बालिका—वह बालिका। उसका मुख-मण्डल कितना प्रसन्न था!

और, उसका बदन मेरी उस सहचरी से कितना मिलता-जुलता-सा!

मैं भूल गया अपने आपको।

और, मैंने देखा, वह चपला निकट ही एक कदम्ब-वृक्ष के नीचे पहुँची और झूम-झूमकर गाने लगी—'मेघा-राजा पानी दे!'

मैं तमसा-विकल बरामदे से, उस चपल-बालिका का सारा पागलपन देख-देख विस्मय से भरा जाता था।

परन्तु उसी क्षण पास के मकान से, रजनी के प्रथम-प्रहर की अँधियाली को चीरकर किसी गायक का जो मधुर-गीत-स्वर गूँज उठा,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

वह उस लड़की की रुई से भी हलकी स्वर-लहरी को, न जानें, किस सुदूर प्राय-द्वीप में फेंक आया !

और. वह भी ध्यान-मग्न होकर सुनने लगी—'झूलना झुलाओ.... नान्हीं-नान्हीं बूँद बूँदनियाँ ....पड़त फुहार....झूलना झुलाओ !'

ऊपर देखा, कदम्ब की शाखा से एक झूला लटक रहा है, जिसकी दोनों बाँहें फैलकर बालिका को अपने आश्लेष-बन्धन में ग्रहण करने के लिये तैयार-सी हैं।

बालिका का मन ललचाया और उसी समय ग्रामोफोन के काष्ठ-मानव के कोमल स्वरों ने यह तान छेड़ी—'अमवा की डाली पे कोयल बोले; कुहुक-कुहुक जिया लेय !....झूलना झुलाओ !'

मेघों की तरंग-माला, प्रथम-रजनी की अभेद्य निर्जनता और वर्षानिल की सुस्निग्ध शीतलता ने कुमारी के प्राणों में कुछ ऐसा जादू का असर किया कि वह बेसुध-सी अपने आपे को खोने लगी।

उसने सतृष्ण लोचनों से एक बार कदम्ब की अवनत शाखा को देखा, श्यामल मेघ-पुञ्ज को देखा, पावस की पुञ्जीभूत वेदना को देखा और देखा, छोटी-छोटी जल-फुँहियों को अपने सुकुमार पंखों पर इधर से उधर उड़ा ले जानेवाली बरसाती हवा को, यूथिका-निकुञ्ज में सिहरती-सी, काँपती-सी, डोलती-सी।

उसका सारा मान सागर-जल में तिनके की तरह बह गया।

और, उसने एक बार फिर उसी विस्मय-विस्फारित दृष्टि से अपनी नीले-रंग की धोती को देखा, जो पानी में मिसरी की डली की तरह उसके वासन्ती-कलेवर से घुल-मिल गयी थी और जिसकी असम्पूर्ण सुषमा-सीमा को लाँघ कर उसका चंचल-शैशव पार्वती-कुल्या के समान मन्द-मन्थर-गति से बह रहा था।

और कदम्ब की डालियों से हिलता हुआ हिन्दोल भी मानों उसी सजल जलद-रागिनी में अपना कंठ-स्वर मिलाकर गा रहा था—'आओ री, झूलना झुलाओ !'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

बालिका उल्लसित होकर झूले के पास पहुँची; और,....

पाषाण हृदय-हीन होता है। किन्तु, उसके वक्षः-स्थल को भेदकर निकलनेवाली अमृत-सलिला निर्झरिणी पत्थर के दिल को भी मोम-सा पिघला देती है। काष्ठ में प्राण नहीं; परन्तु काष्ठ-यन्त्र के अंतर से निकलनेवाली वाणी तरुओं की आत्मा को भी एक बार अपनी अमोघ-मूर्च्छना से विकम्पित कर देती है।

बालिका झूले से फिसल-फिसल पड़ती।

उसकी पहुँच के लिये झूला कुछ ऊँचा जरूर था।

और, वह सरला बालिका उस पर चढ़ने के लिये अथक परिश्रम कर रही थी।

शारदीया उषांगिनी के सौरभ-समीर में सिहरती-सी लवङ्ग-लतिका पर जिस प्रकार तितली अपने ही सौंदर्य-भार से गिर-गिर-सी पड़ती, ठीक उसी प्रकार कुमारी के पैर झूले को छूते ही फिसल-से जाते और वह पंख-हीन विहंगम-सी पुनः धरातल पर आ जाती!

परन्तु उसका उत्साह कम न होता और न होती निष्फल उसकी चेष्टा ही

एक अज्ञात कौतुक के वशीभूत होकर वह स्वयं कौतुक बन रही थी।

मैंने अनुभव किया, उसे सहारा चाहिये।

और, उसके साथ—उसके साथ वे दोनों कौन ?

मैंने चकित-चंचल नयनों से देखा, वे मेरे चिर-परिचित बाल्य-बन्धु!

रूप-कथा के राजकुमार के समान मैं पक्ष-युक्त अश्व पर आरूढ़ होकर पहुँच गया अपने उसी देश में, जहाँ किसी राजा का घर था, राजमहल की छत पर एक मयूर का निवास था।

और, मैं किसीका अतिथि था।

अपने परिवार से दूर, देश से दूर, मित्रों से दूर इस प्रवास में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जैसे मैं विचारों के समुद्र में खो-सा गया।

और, वे दोनों नाच-नाचकर घूम रहे थे और घूम-घूमकर नाच रहे थे।

और, उनके बीच में वह 'अष्टवर्षा भवेत् गौरी' से 'नववर्षा च रोहिणी' के प्रवेश-द्वार पर!

स्वयं मेघ-परी।

जैसे कैलास-शिखर पर राशि-राशि पाथोदपुंजों से आमण्डलित तरु-कुंजों में भगवती जगत्-जननी के सम्मुख के ये विचित्र पुच्छ-धारी कार्त्तिकेय के वाहन-युगल उन्मत्त-नर्त्तन कर रहे हों।

मैं सचेष्ट होकर वहाँ रुक नहीं सका।

लोहा कभी यह नहीं चाहता कि मैं चुम्बक के पास जाऊँ; परन्तु एकाएक चुम्बक की आकर्षण-परिधि में आकर वह अपने को रोक भी तो नहीं सकता। यह उसकी अनिच्छा-इच्छा पर निर्भर नहीं—उसे बरबस जाना ही पड़ता है।

मैं खिंच आया कुमारी के पास।

चढ़ा दूँ क्या? मैं उससे पूछने ही वाला था कि वह झूले को छोड़कर, चुपचाप, एक ओर खड़ी हो गयी और निर्निमेष दृष्टि से जमीन की तरफ देखने लगी, जैसे पत्थर की मूरत हो!

कदम्ब के सघन-पत्रों से छन-छनकर पानी की बड़ी-बड़ी गोल बूँदें गिर रही थीं और उनकी अचंचल स्वर-तालयुक्त ध्वनि से उपवन की निशि-तन्द्रिल निर्जनता में ईषत् अशान्ति का संचार हो रहा था।

मैं उस वृक्ष की मेघ-सजल छाया में स्वप्नलोक के प्राणी की तरह खड़ा था, अपरूप, अनिंद्य, अभूतपूर्व।

वह मौन, अचल, निर्वाक्।

'आओ, मैं तुम्हें झूले पर बिठा दूँ!' मैंने पुनः कहा।

उसकी पलकें जरा-सा ऊपर उठीं और उनके अन्तराल से कोई चीज बिजली-सी चमककर फिर तुरन्त बुझ गयी।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

'रानी ...... कुमारी !'

वह जरा-सा हिली और उत्तर में उसके अधर-पल्लव क्षण भर के लिये विकम्पित-से हो गये।

मैंने पुनः नीरवता भंग की—'आओ न ! डरती हो क्यों ?'

इस बार कुमारी के अधरों पर बिजली की एक क्षीण रेखा दौड़ी।

'मुझे पहचानती नहीं हो क्या ?'—मेरा साहस बढ़ा और मैंने उसका एक हाथ पकड़ लिया—'मैं पराया नहीं हूँ, कुमारी !'

और, इस बार, जो जलधर आकाश-मण्डल में गम्भीर हो रहा था, वायु के तरल-स्पर्श से पानी-पानी होकर पृथ्वी पर बरस पड़ा—उन्मुक्त हँसी के रूप में।

वह खिलखिला पड़ी।

मैंने उसे खींच लिया और वह अपनी दोनों बाँहें फैलाकर मेरे आकुल कंठ से लिपट गयी; मल्लिका के हार की तरह, कवि की कल्पना की तरह, वैभव के स्वप्न की तरह !

और, वह खिलखिला पड़ी, जैसे किसी चंचल ने तैशोकोटो के पतले-नाजुक तारों पर कचकरे की शोख उँगलियाँ चला दी हों।

उस हास्य की सुनहली रश्मियों ने बाह्य जगत की अन्धकार-माया में भी मेरे हृदय की भावना-मेघ-मालाओं पर सुषमा की मनोहर इन्द्रधनुष की कल्पना की, जिसकी त्रिभुवन-मोहिनी कान्तता से मेरे अन्तःप्रदेश का अखिल लीला-जाल सुवर्ण-अनुरंजित हो चला।

और, उसके वक्षस्थल का चंचल स्पन्दन रेशमी जैकेट के आसमानी तारों को भेद, वातावरण को व्यतिक्रमण कर, मेरी समस्त स्नायु-प्रणालियों को छू-छूकर आकुलित करने लगा।

मेरे हृदय का श्वास-श्वास किसी अनिर्वचनीय पुलकोद्दीपन से उत्तेजित सा हो गया।

मैंने उसे झूले पर बिठा दिया।

उसने कहा—'अब झुला दो ना !'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मैं बोला—'झूलो ना !'

वह अदृश्य गायक तब भी अपनी काँपती हुई आवाज में गाता जा रहा था—'झूलना झुलाओ !' और, मानो, उसके स्वर में अपना निराला स्वर मिलाकर बरसात की दीवानी दुनिया ठुमुक-ठुमुक-कर नाचती जा रही थी—'झूलना झुलाओ !'

वह झूल रही थी और मैं झुला रहा था।

हाँ, दोनों झूल रहे थे।

फर्क इतना ही था कि एक का झूला कदम्ब की डालियों में लगा था और दूसरे का लोक-दुर्लभ मन्दार की शाखाओं में।

मैं उसे झुला रहा था और मुझे झुला रही थी नन्दन-वन की परिमल-कम्पित तरु-वीथियों में विहार करनेवाली निर्द्वन्द्व कानन-बाला; वह अप्सरा-कुमारी !

सहसा एक दिल-दहलानेवाली आवाज हुई, जैसे आसमान फट गया और कोई चमकती हुई चीज विद्युत्-वेग से धरित्री का कलेजा चीरकर मेरे दृष्टि-पथ के आर-पार हो गयी।

निमिष-भर के लिये सारा भूमण्डल एक अपूर्व-ज्योति से चमत्कृत हो गया।

और, लो !

झूला काँपा। सारा नीप-तरु एक अचिरागत भय की आशंका से आमूल सिहर उठा, जैसे उसने उस प्रचण्ड-रश्मि-पुंज को प्रत्यक्ष देख लिया हो ! और, उसकी डाल-डाल, रेशे-रेशे, पत्ती-पत्ती में एक अजीब सनसनाहट-सी भर गयी।

झूला काँपा और झूलावाली अपनी समस्त विस्मृति में बेहोश, विह्वल, बेसुध नीचे की ओर झुकी, टूटे-हुए नक्षत्र के समान, शाप-भ्रष्ट तपस्या के समान, स्वर्ग-च्युत किन्नरी के समान।

मेरे लोचन अनावृत नहीं थे और मेरे कान अमुद्रित नहीं।

फिर भी मैं सजग था।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अकस्मात् कर्ण-भेदी निनाद हुआ। झूला डोला। पृथिवी और आकाश गम्भीर प्रतिध्वनि से गुंजायमान हो गये।

और, वह चिल्लाकर झूले से नीचे गिर पड़ी।

गिर पड़ी बेहोशी में एक बार जोर से यों चिल्लाकर, कि,

कि, दूसरे-ही क्षण मैंने देखा कि वह मेरी भुजबल्लरी-बन्धन,-छाया में मूर्च्छित पड़ी है।

कम्पमान कलेवर, अर्द्धमुकुलित विलोचन, अस्त-व्यस्त वसन और श्रान्त-पथिक-सा शिथिल निःश्वास।

मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकता, कि, कब मेरी बाँहों ने आगे बढ़कर उस पतनाभिमुखी-बालिका को ऊपर ही रोक लिया;

और, अब तो मुझे यह भी याद नहीं कि कैसे कुमारी की माता उस स्थान पर पहुँची और मेरे वक्ष से माधवी-लता की तरह लिपटी हुई उस मानव-प्रतिमा को आकुलता से छीन लिया।

वह पारिवारिक परिचर्या में थी।

और, मैं चला।

'धन्यवाद !' कुमारी के अग्रज ने मुझे रोकते हुये कहा, 'जरा ठहरिये तो।'

मैं बोला, मुझे जाने दीजिए। और, मैं चला।

'इतनी अँधेरी रात में !' उनका आग्रह था, 'मैं एक आदमी को साथ कर देता हूँ। वह लैम्प लेकर आपको पहुँचा आवेगा।'

'नहीं, क्षमा कीजिये।' मैंने सीढ़ियाँ उतरते-उतरते कहा, 'धन्य-वाद। मैं चला जाऊँगा। प्रकाश की जरूरत नहीं।'

और, मैं चला आया।

और, उस अँधेरी-रात में, अस्पताल के आगे से, सुनसान पुल पार कर, कैसे मैं सकुशल घर पहुँच गया, मुझे मालूम नहीं।

मेरी सारी देह भीग गयी थी, पानी से नहीं; पसीने से। और, मैं कृतज्ञ हुआ, अपनी उस काश्मीरी दुशाले का, जिसने स्वयं भीगकर भी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मुझे उस जाड़े की रात में सर्दी से ठिठुरने से बचा लिया था।

डेरे पर पहुँचते ही मैंने कोठरी का ताला खोला, रोशनी की और कपड़े बदले।

और, इसके बाद मेरे हाथों में थी कलम।

कोरा कागज रंगीन, होने लगा।

भावों के तूफान आये, कल्पनाओं की आँधियाँ उठीं और रसों की बाढ़ उमड़ीं। और, उस बाढ़ में मैं विना पतवार की नाव की तरह बह चला।

बाहर रस की निर्झरी व्योम के अनन्त शिला-खण्डों से टकराकर अजस्र-वेग में झर-झरकर गिर रही थी और भीतर मैं मन ही मन किसी भूले हुए गीत की एक कड़ी गुनगुना रहा था।

मैं भूल गया अपने को, दुनिया को भी; मैं भाग गया घर से, दुनिया से भी और, मैं······

मेरे दिमाग पर एक अजीब किस्म की वेखबरी आकर छा गई!

कब तक मैं इस हालत में रहा, याद नहीं;

और, जब किसीकी तुषार-सी शीतल उँगलियाँ अचानक मेरे कपोलों से छू गईं, तो मैं चौंक पड़ा—घड़ी में ग्यारह बज चुके थे!

मेज पर थाली रख दी गई।

और, साथ ही किसीकी स्त्री-सुलभ कोमल वाणी ने मेरे प्राणों को भेदकर कहा—'बस, अब खा लो!'

मेरी लेखनी जहाँ थी, उसे मैंने वहीं विश्राम दे दिया।

और, उस रात माघ के महीने में मैंने जो सपना देखा, वह वास्तविकता से अत्यधिक मनोहर, आकर्षक और आह्लादकारी था।

मेरी चिन्तना सार्थक हो गई और प्रभात-समीरण के प्रेमान्दोलन ने जब हठात् मेरे रंगीन स्वप्नों को गतिहीन कर दिया, तब मैं स्वयं ही अपने चित्रों को देखकर आश्चर्य-कंठ से कह उठा—

अरे यह क्या, कलापी!

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

तितली

शैशव ने तितलियों को बाँधा; परन्तु यौवन को बाँधा तितलियों ने।

वह बन्धन होता धागे का, तुनुक; यह बन्धन है वज्र और फूलों का, आग और पानी का और अमृत और हलाहल का; एक साथ ही कोमल और कठोर, उष्ण और शीत और प्राणदाता और जीवन-हर!

यौवन को भी कुछ ऐसे ही शब्दों में लोग याद करते।

और सच तो यह है कि जब शिशु ने तितलियों को बाँधकर उड़ा दिया—"उड़ी हवा में जाती है...." तब युवक को तितलियों ने बाँधकर नाच नचाया—"एक बार नाचो तो कान्हा!"

और तब मैं भी शिशु था।

एक दिन अमरूद के बगीचे में मैंने भी एक तितली पकड़ी; उसे बाँधा और उड़ाकर छोड़ दिया।

अपने पैरों और पंखों में उलझे धागे को लेकर न जाने कहाँ चली गयी!....

और मैं मुसकराकर ही रह गया।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

वह थी मेरी बाल-सखी...... आपको उसका नाम नहीं जानना चाहिये। यदि नामकरण अत्यन्त आवश्यक हो तो मान लीजिये कि उसका नाम कल्पना था।

तो कल्पना प्रतिदिन मेरे बगीचे में अमरूद चुराने आती और छिपकर पेड़ पर चढ़ जाती। अपनी कुसुम रंग की पीली साड़ी को कमर से कसकर बाँध, कछनी काछ, अंचल को गले में लपेट वह बन्दर की तरह इस डाली से उस डाली पर उछलती फिरती और अच्छे-अच्छे फलों से सम्पूर्ण झोली भर, लोगों की आँखें बचाकर, फौरन नौ-दो-ग्यारह हो जाती।

यह उसका दैनिक कार्यक्रम था।

पर मुझे विश्वास न हो कि वह इस तरह मेरे ही सिर पर हाथ फैलावेगी और उसी पेड़ पर धावा बोल देगी, जिसके मीठे-मीठे फलों का मैं स्वयं प्रेमी था।

लेकिन उस इन्द्रधनुष-सी आकर्षक तितली को क्या, जो प्रत्येक पुष्प का रस-पान कर इस कुंज से उस कुंज में उड़ना जानती!

मैं उसके पीछे पड़ा।

कल्पना सतर्क रहने लगी और सर्वदा सचेष्ट रहती कि वह कहीं मेरी आँखों में न पड़ जाय!

उपवन की वायु ज्यों ही मेरी कोमल मन्द पद-ध्वनि को उसके कानों में पहुँचा देता, त्यों ही, अमरूद के सम्पूर्ण स्नायु मण्डल में एक मृदुल कम्पन होता। वृक्ष के सारे शरीर को जैसे वेग से झकझोर कर कोई सरसर डालियों से उतरता और नीचे कूद पड़ता—"झम्म—झम्म—झमाक!"

तब एक बार किसी सौन्दर्यवती के चंचल चरणों में नूपुर कोलाहल करने लगता और एक चलती-फिरती प्रतिमा-सी निकलकर तीर की तरह बाहर की ओर छूटती। और मेरे पहुँचने के दूसरे ही क्षण, वहाँ किसी की छाया भी नहीं मिलती।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

लेकिन मैं उसे पहचान जाता ··· वह थी ···· कल्पना के सिवा, दूसरी नहीं ! क्योंकि, "मुझे मालूम था उस मंजीर का रुन-भुन बजना !"

अमरूद की मधुरता ने उसमें पिपासा उत्पन्न की। पिपासा ने दिया लोभ। लोभ ने बनाया विवेकशून्य। अविवेक से मिला असंकोच। तब आई निर्भयता। फिर हुआ साहस। साहस ने उसे इतना चतुर तथा धृष्ट बना दिया कि वह मेरे देखते-देखते पेड़ को हिला-डुलाकर भाग जाती।

मैं पकड़ न पाता।

अनादि-काल से संसार की सभ्यासभ्य जातियों में मायायुद्ध का इतिहास चला आता है और प्रागैतिहासिक युग में तो यह आर्यावर्त के चक्रवर्ती भूपतियों का स्वभाव-सिद्ध सामरिक मनोरंजन था।

इस बीसवीं शताब्दी ने तो निस्तब्ध रात्रि के भयानक सन्नाटे में, सोते हुए असहाय पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों पर वायुयानों से बम बरसा-कर यह प्रमाणित कर दिया है कि संग्राम में न्याय और धर्म की दुहाई देना परले सिरे की बेवकूफी है, जिसका इलाज न राष्ट्रसंघ के कार्यालय में है और न परमपिता परमात्मा के पास।

सो, मैंने एक रचा षड्यन्त्र ···· द्रोणाचार्य के चक्रव्यूह के समान; और कल्पना उसमें फँस गयी ···· अभिमन्यु के सदृश नहीं; व्याधा के जाल में बाल-हरिणी की तरह।

उसके आने का एक बँधा समय था और प्रतिदिन के नियमित अभ्यास के उपरान्त मैंने लकड़ी के एक नुकीले टुकड़े से जमीन पर पड़ी छप्पर की छाया-रेखा को अंकित कर दिया।

यह मेरी घड़ी थी।

उस दिन मैं उपयुक्त समय से कुछ काल पूर्व ही बगीचे में पहुँच गया। पेड़ पर चढ़कर और पत्तों के झुरमुट में मैं छिप छिपाकर बैठ रहा।

मेरी दशा उस समय ऐसे शिकारी की-सी थी, जो वनराज व्याघ्र

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

के आगमन की प्रतीक्षा में, जंगल के ऊँचे मचान पर, एक अननुभूत उत्कण्ठा एवं भय-मिश्रित कुतूहल से समय का एक-एक क्षण गिनता है!

सहस्रलोचन के समान मेरी दृष्टि में अपार शक्ति आ गयी थी और फणीश की तरह मेरे कान अत्यन्त तीक्ष्ण शब्दग्राही हो गये थे।

और मेरा अंग-अंग किसी अभिनव-आगन्तुक उत्सुकता से पुलकित-प्रहसित हो रहा था।

सहसा वह आती दिखायी पड़ी। मेरे रोम-रोम खिल उठे, वसन्त के फूलों की तरह। मैं पत्तों की ओट में और भी दुबक रहा।

नूपुर बज रहे थे—झन्न···झन्न···झन्न!

और वह चल रही थी मराल की गति में,···नेत्र सतर्क प्रहरी-से; अधर स्फुटित; दृष्टि शंकित; पद-चाप शब्द-रहित और अवयव कुण्ठा से कुंचित!

पीताम्बर का अंचल मलयानिल में लहरा रहा था, मानो मकरध्वज का विजयकेतु!

उसने एक बार चकित मृगी-सी चारों ओर देखा और तब निडर होकर पेड़ पर चढ़ गयी।

एक-एक कर सभी डालियों से घूम आयी, फल तोड़े, झोली भरी और खाये भी। अन्त में आँखें उधर गयीं, तो देखा··एक मधुर-सा, पका-सा मीठा-सा बड़ा फल!

कल्पना के मुँह में पानी भर आया। वह उतर जाने का विचार कर रही थी कि उसे मोह में पड़कर फिर पेड़ पर चढ़ना पड़ा।

जब उतर ही जाती, तब मैं अपने को प्रकट कर देता···वह क्या समझती, भूत···लंगूर···नहीं; आदमी विजय,··· तो, न-जाने, क्या-क्या खयाल करती!

लेकिन ऐसा अवसर नहीं आया। जब वह मेरी ही तरफ धीरे-धीरे बढ़ने लगी, तब मैं आक्रमण के पूर्व बिडाल-बालक के समान घात लगाकर बैठ रहा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उसने मुझे नहीं देखा—निश्चय नहीं देखा। कारण, उसका लक्ष्य था, अमरूद का वह पीला-पका फल !

वह फल की तरफ लालचभरी निगाहों से देखती बढ़ी आ रही थी।

और मैं पत्तों की आड़ में, पेड़ के तने से सटा, दुबका था।

वह मेरे बिलकुल नजदीक पहुँच गयी, लालसा के रस से जिह्वा तरल हो उठी। और, उसने फल तोड़ने के लिये हाथ बढ़ाया····

कि,

शीतल····!

साँप की तरह····!!

उसने भय से काँपकर तत्काल हाथ खींच लिया। मेरे शरीर से जो उसकी उँगलियाँ छू गयीं····तो, मैंने बढ़कर उसे पकड़ लिया।

वह पीछे की ओर वापस होना चाहती थी कि मैंने अपनी दोनों बाँहें पूरी सीमा में फैलाकर कल्पना को भरपूर बाँध लिया।

पानी से निकाली हुई मछली की तरह वह मेरी छाती पर थोड़ी देर छटपटाई, छुटकारा पाने के खयाल से; परन्तु मेरा बन्धन ऐसा कठिन था कि उसे आत्म-समर्पण कर देना पड़ा !

"पगली लड़की !" मैंने उसको अपने वक्ष के और भी समीप लाकर, सटाकर, कहा—"गिर पड़ेंगे हम दोनों !"

"मेरी बला से !" वह तिनक कर बोली।

"चुपचाप, बैठ !"

"अगर, न बैठूँ···तो ?"

"तो धकेल दूँगा।" मैंने उसे फेंक डालने का अभिनय कर कहा—"गिर पड़ेगी···मर जायगी !"

"मुझे मत धकेलो !" उसने रोकर कहा—"मुझे मत मारो !"

"तो, प्यार करूँ क्या ?"

"वह भी मत करो।"

"तो क्या करूँ ?"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"मुझे छोड़ दो" वह बोली—"घर जाने दो !"

"अच्छा बताओ !" मैंने पूछा—"अमरूद क्यों तोड़े ?"

"बड़े मीठे थे।"

"वाह बड़े मीठे थे !" मैंने कहा—"मीठे थे तो क्या इसीलिये कि उन्हें चुराकर तोड़ लो'!....लाओ, तो....तुम्हारे गाल बड़े मीठे हैं....मैं इन्हें खाऊँ ?"

"खाओ न !" वह बोली—"काट खाओ न....मैं मना थोड़े करती हूँ !"

और उसी क्षण दाँतों से, अपने चूहे के-से तेज दाँतों से उसके गाल पर ऐसा गहरा निशान बना दिया कि वह 'उफ ! उफ !!' कर उठी ! समूचा गाल लाल हो गया और निशान के चारों ओर कंकण-सा गोलाकार चिह्न बनाकर लहू की बूँदें छलछला आयीं !

कल्पना ने उन चिह्नों को अपनी हथेलियों से दबाकर कहा—"दुष्ट !"

"मेरे चोर !" मैंने कहा।

"तू मर जा !" वह बोली।

"अब तो नहीं चोरी करेगी" मैंने मुस्करा कर कहा—"बोल,... अब तो नहीं ?"

"निष्ठुर....छोड़ भी !"

"बता, तो !" मैंने कहा।

"नहीं, नहीं !" उसने हाथ जोड़कर कहा—"ले, अब छोड़ दे.... मैं मरी !"

और मैंने उसे छोड़ दिया—"अमरूद तो दे !"

"ले खा !" उसने झोली फैला दी।

"और तुम ?"

"मैं तुम्हारे अमरूद नहीं खाती !" वह बोली—"तुम बड़े दुष्ट हो !"

"चोर...चोर मेरे" मैंने कहा और अपने दाँतों से अमरूद का

15668

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

एक छोटा-सा कतरा काट, जबरदस्ती उसके मुँह में डाल दिया—"तू न खायगी, तो जा···मैं भी नहीं खाता !"

उसने समूचे कतरे को मेरे मुँह पर थूक दिया—"बदमाश !"

"धन्यवाद !" मैंने कहा—"आओ, तुम्हें घर पहुँचा दूँ !"

"तुम्हारे संग मैं नहीं जाऊँगी !"

"लाओ, गाल पोंछ दूँ !····"

"भागो यहाँ से !" वह बनावटी गुस्से से बोली।

मैं अपने कोमल होठों से उसके घाव पर मरहम-पट्टी का काम करता और उसके स्पर्श से जो एक गरम-गरम-सी पीड़ा कपोलों पर होती, उससे व्याकुल होकर कल्पना सीत्कार करने लगती !

उसी दिन सन्धि हुई। दूबों की हरी-हरी नोक से, दोनों ने एक दूसरे की हथेलियों पर हस्ताक्षर किया, गो-गंगा की शपथ खायी और शर्त यह रही कि जो कोई अमरूद तोड़े, आपस में आधा-आधा बाँट ले !

लेकिन, यह बाँटने का मौका कभी नहीं आया।

क्रमशः हम दोनों एक-दूसरे से दूर—दूरतम होने लगे और कुछ ही वर्षों के बाद एक दिन ऐसा आया कि वह बंगाल की खाड़ी में गिर पड़ी और मैं अरब-सागर में फेंक दिया गया।

इसके बाद तो कितनी आँधियाँ आयीं, कितने तूफान आये, कितने ओले पड़े और कितना पानी बरसा।

और भूकम्प जो हुआ, तो मेरे स्मृति-मन्दिर का मूल हिल उठा।

मेरे जीवन के वे दिन ऐसे थे, जब आँखें चार होना चाहती हैं, शरीर दो होना चाहते हैं और हृदय एक होना चाहता है।

जब उमंगों की घुड़दौड़ में बचपन का कठघोड़ा लँगड़ाकर स्वयमेव पीछे, हजारों कोस पीछे छूट जाता और उसके स्थान में अश्वमेध के यज्ञ-पूत मंत्र-जल से अभिषिक्त होकर यौवन का द्रुतगामी घोड़ा अपने प्रबल खुरों के दुर्दम आघात एवं विकट रणघोष से संसार को चकित

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

करता हुआ दिग्विजय के लिये निकल पड़ता है।

जब हठीली आँखें किसी से लड़ जाने के लिये राह-चलते छेड़-खानियाँ किया करती हैं, जब कान किसी की रसीली बातों को सुनने के लिये जबरदस्ती अवसर ढूँढ़ा करते हैं और जब हृदय किसी के प्रेम-रंग में शराबोर हो जाने के लिये सदैव उत्सुक रहा करता है।

जब किसी को देखकर पैर आप ही आप रुक जाते, जब किसी को पाकर रसना आप-ही-आप मूक हो जाती और जब किसी से मिलकर हृदय आप ही आप तृप्त हो जाता है।

जब बेपिये ही अलमस्त अल्हड़ तरुणाई जंजीरों की पैजनी बजा-बजाकर, बीच सड़क पर झूम-झूमकर गाती चलती है—'साकी पिला दे शराब !'

हाँ, वे दिन निस्संदेह ऐसे ही थे और अलमस्ती के उन्हीं दिनों में एक दिन मैंने उसे देखा, परिचय हुआ; और चितवन की डालियों से प्रेम का एक ऐसा झूला लटकाया गया, जो किसी दिन अपने ही भार से नीचे जमीन पर टूटकर गिर पड़ा।

और,····

नन्दन-वन में वसन्त का प्रथम चरण पड़ चुका था एवं उसके प्रवेश से दक्षिण-पवन की मन्द-मधुर गति में आलस्य तथा उदासी का आभास होने लगा था।

····के जिस कालिज में मैं उन दिनों पढ़ता, उसका सुरम्य होस्टल छात्रों के लिये आकर्षण का केन्द्र था। मधु-मक्षिकाओं के समान यौवन के मधु-चक्र में निरन्तर गुंजन करनेवाले विद्यार्थियों का समुदाय अपने हास्य-कलरव से छात्रावास का वातावरण दिन-रात मुखरित रखता।

होस्टल से संलग्न, कालिज का अपना उपवन था और सर्वत्र उसमें इधर-उधर फैली हुई नाना प्रकार के फूलों की रंगीन क्यारियाँ;—जैसे भाद्रपद के आर्द्राकाश में विहार करनेवाला मेघ-परिवार पृथ्वी पर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

आकर साकार हो गया हो।

प्रातःकाल का समय था और मैं नित्य-नियमानुसार फुलवारी के फुटपाथ पर टहल रहा था।

मलयानिल के स्निग्ध-शीतल स्पर्श से ऋतुराज के रोम-रोम में उद्दीपन का संचार हो रहा, जिसकी अपरिमेय उत्तेजना में सुमनों का सारा संसार मूर्च्छित पड़ा हुआ था—प्रकृति के वासन्ती अंचल में, नवजात शिशु के समान।

मैं मन ही मन कोई गीत गुनगुना रहा था और चलने के चिर-अभ्यस्त पैर आप ही आप बगीचे की रसीली जमीन पर पड़ रहे थे, गिर-गिरकर उठ रहे थे।

अरुणोदय का सन्देश, यद्यपि विश्व के अर्ध-निमीलित लोचनों में प्रकाश का प्रतिबिम्ब फेंक चुका था; किन्तु उषा के आगमन में अब भी यत् किंचित् विलम्ब था। और प्राची-दिगन्त की उस मनोहारिणी सुवर्ण-छाया में···पाटा···नगर की मृण्मयी सृष्टि ऊँघ-सी रही थी।

कलियों की उस बेहोश दुनिया में मैं दिवा-स्वप्न की तरह डोल रहा था, अपनी ही धुन में मस्त।

इतने में वह दिखायी पड़ी।

बाल-रवि ने अपनी प्रथम–प्रथम किरणों के तारों से सुप्त प्रकृति को जगाया नहीं; प्रातः समीर ने छेड़कर, मचलकर, इठलाकर कलियों की खुली-अधखुली आँखों में चुम्बन का लज्जारुण अनुराग भरा नहीं, और भ्रमरों के अशेष दल ने गुलाबों के लाल-लाल कपोलों पर प्रेम की नीली-पीली डोरियाँ खींचकर उनके अन्तस्तल को गुदगुदाया नहीं कि वह आयी और उड़कर मालती की एक पतली-सी नाजुक डाली पर बैठ गयी।

मेरे जीवन का वह संक्रान्ति-काल था।

किशोरावस्था की मरकत-देहली से फिसलकर मैं उन्मत्त यौवन के उस आग्नेय द्वार पर खड़ा था, जहाँ से तृष्णा की जीवन्त ज्वालामुखी का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

केन्द्र-स्थान यदि बिलकुल निकट नहीं, तो उतना दूर भी शायद ही था।

तब तरह-तरह के अरमानों से भाँति-भाँति की इच्छाओं से तथा मेघालोक में चित्र-विचित्रित इन्द्र-धनुषी विचारों से मैं व्याकुल हो रहा था—मेरा दम घुट रहा था!

इतने में वह उड़ी और उड़कर उसी डाली पर बैठ गयी, जिसको छूकर अभी-अभी मैंने अपने सारे शरीर को रोमांचित कर लिया था।

मालती की सुकुमार लतिका इन्द्रपरी के कोमल पद-भार को सहन करने में अत्यन्त असमर्थ सिद्ध हुई और वह तन्वंगी नवबाला किसी भीषण अनर्थ की आशंका से थर-थर काँपने लगी।

चंचला ने उसे छोड़ दिया और नर्तकी-सी बल खाती हुई मेरे कन्धे पर बैठ गयी।

मैं आपाद-मस्तक सिहर उठा।

इतना पुलक, इतना उन्माद; जिन्दगी में पहली बार मैंने अनुभव किया कि किसी रूपवती के स्पर्श में कौन-सी सम्मोहन उन्मादना होती है!

मैंने उसे पकड़ना चाहा।

वह मेरी अनधिकार चेष्टा थी। फिर भी, मैं जानता हूँ, मेरा मस्तिष्क मेरे शासन से विद्रोह कर रहा था।

तितलियाँ अतीत काल में मेरी सदैव की लीला-संगिनी रही हैं; परन्तु तब वे मेरे पीछे दौड़ती थीं और आज मैं स्वयं उनके पीछे दौड़ रहा हूँ।

ज्यों ही मैंने उसको पकड़ने के लिये अपना हाथ बढ़ाया कि वह तत्काल उड़ गयी और पास ही पाटल के एक पूर्ण विकसित पुष्प पर धीरे से बैठ गयी।

मैं पागल हो गया।

उस फुलवारी में आने का मेरा प्रतिदिन का व्यसन था। नित्य ही मैं वहाँ घूमने आता था। परन्तु ऐसी चंचल तितली, इतनी सुन्दर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

तितली, इस प्रकार की मनोमोहक तितली मैंने कभी न देखी, कभी न देखी।

तब तक अंशुमाली का प्रज्वलित प्रकाशपिंड क्षितिज की सीमा का अतिक्रमण कर चुका था और उसकी सुनहली रश्मियाँ वनस्पति के प्राणों में मादकता का संचार कर रही थीं।

प्रकृति की समस्त सृष्टि उदीची की उस अभूतपूर्व लालिमा के महासमुद्र में निमग्न हो गयी और वसन्त-कानन का वह छोटा-सा टुकड़ा रक्तिम तरंगों के अरुण—अरुण आवेग में डूबने-उतराने-सा लगा, जैसे लाल-सागर में इन्द्रधनुष का कोई विशाल जलपोत हो!

वह चली, मैं दौड़ा; वह भागी, मैंने पीछा किया।

मैं चंचल हुआ; वह हुई चंचलतर।

इस पेड़ से उस पेड़ पर, इस डाली से उस डाली पर और इस फूल से उस फूल पर, वह तमाम बगीचे में उड़ती रही और मैं उसके पीछे-पीछे बेसुध-सा, खोया-सा, उन्मत्त-सा दौड़ता रहा।

परन्तु, वह हाथ नहीं आयी।

मुझे याद पड़ा, बचपन में तितलियाँ स्वयं मेरी बाँहों पर आकर बैठ जातीं और मैं उनके परों को धागे में बाँधकर तिलंगी की तरह हवा में मनमाना नाच नचाया करता; परन्तु आज वे बुलाने पर भी नहीं आतीं!

मेरे बदलते ही सचमुच जमाना बदल गया।

बाग का वह कोना एकदम एकान्त था; और उधर सिवा मेरे-जैसे पागलों के, और कोई भूलकर भी नहीं झाँकता था।

सो, उस निर्जन पगडण्डी पर, न-जाने, मैंने कितने चक्कर दिये और वह हसीन तितली कभी इधर से, कभी उधर से; नीचे से, ऊपर से; अगल से, बगल से; पीछे से, आगे से मुझे छूती-सी उड़ती रही।

मैं पकड़ नहीं पाता।

उसके सुनहले परों की गुलाबी हवा से मैं तिलमिलाता रहा; लेकिन उसने मेरे पास आना मंजूर नहीं किया, नहीं किया।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

लगातार दौड़ते-दौड़ते मैं परेशान हो गया; मेरी सारी देह पसीने से तर हो गयी और मेरा रेशमी कुरता श्रम-जल के उस अविरल प्रवाह में निमज्जित-सा हो चला।

आखिर मेरे पाँव जमीन पर लड़खड़ाने लगे और मैं कातर कण्ठ से पुकार उठा—"ठहरो! ओ, जरा ठहरो!!"

न मालूम, इन्द्र-परी के कानों तक मेरी दर्द-भरी आवाज गयी या नहीं; परन्तु मेरे वे शब्द बगीचे की चहारदीवारी लाँघकर कालिज की दीवार से जरूर टकराये होंगे, तभी तो विकट अट्टहास से अकस्मात् छात्रावास का प्रासादतुल्य भवन गूँज उठा और ज्यों ही मैंने ऊपर सिर उठाया, त्यों ही, देखा कि दुमंजिले, तिमंजिले की तमाम खुली खिड़कियों से होस्टल के मेरे अगणित सहपाठीगण मेरी तरफ झाँक-झाँककर अजीब हँसी हँस रहे हैं।

कुछ शर्म से, कुछ श्रम से और कुछ खेद से मैं जीते-जी मर-सा गया।

किसी ने कहा, पागल; किसी ने कहा, भावुक और किसी ने कुछ। परन्तु मेरे मन ने उस समय क्या कहा, मुझे ठीक-ठीक याद नहीं।

और याद होने पर भी तो मैं ठीक ठीक नहीं कह सकूँगा।

मेरी हिम्मत पस्त हो गयी।

निर्जीव-सा, उद्भ्रान्त-सा, मदहोश-सा मैं एक बेंच पर गिर पड़ा और मेरे सामने न मालूम, किस युग की अनोखी दुनिया कुम्भकार के मृत्तिका-चक्र की नाईं नाचने लगी, जिसमें न वृक्ष थे, न पौदे; न फूल थे, न पत्तियाँ; न पर्वत थे, न नदियाँ और न मानव थे, न पशु; शून्य—बिलकुल शून्य। और उस असीम शून्य में एक छोटी-सी चंचल चीज अपने सुनहले पंखों को फैलाये उड़ी जा रही थी, उड़ी जा रही थी अनन्त की ओर।

क्षणभर के बाद जब मेरी आँखें खुलीं, तब मैंने देखा—वह, वही तो···मेरे आगे अपनी गति के पूर्णतम आवेग में एकबार नाचकर सदा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

के लिये अदृश्य हो गयी; पेड़ों के झुरमुट में विलीन हो गयी !

मैं शनैः-शनैः चेतना खोने लगा।

कब तक इस हालत में रहा, पता नहीं।

और जब बगल के गिर्जाघर में नौ का घण्टा टनाटन बज उठा, तब मैं घबराकर उठ बैठा।

दिन काफी चढ़ आया था और धूप बहुत तेज हो गयी थी।

मेरे माथे से पसीने की बूँदें चूने लगीं।

उस दिन किसी काम में मेरा जी नहीं लगा। सारा दिन य ही उदास, अलस और तन्द्रामय।

उस दिन मुझे अच्छी तरह याद है, और दिनों की अपेक्षा अधिक देर तक खाना खाया; उस दिन का क्लास और दिनों की अपेक्षा ज्यादा टीडियस था और वह दिन और दिनों की अपेक्षा सचमुच अधिक लम्बा था।

मगर मेरा टहलना नहीं छूटा।

रोज मैं नियमानुकूल फुलवारी में टहलने-घूमने आता, यहाँ-वहाँ ठहरता, चहल-कदमी करता; लेकिन वह नहीं लौटी।

निगाहें किसी को ढूँढ़तीं, दिल किसी को खोजता और आँखें किसी की तलाश में चंचल-सी रहतीं; परन्तु वह जो एकबार गयी, वापस नहीं आयी।

उससे मिलती-जुलती, वैसी ही, ठीक उसी तरह की कितनी ही रंग-बिरंगी चीजें दिखाई दीं; परन्तु वह कभी नहीं मिली।

उसके दर्शन नहीं हुये।

समय का एक प्रचण्ड झोंका आया और मेरी जीवन-तरी एक किनारे को छोड़कर, दूसरे किनारे जा लगी।

लेकिन उसकी याद मेरे दिल से नहीं गयी।

समय के परिवर्तन ने मेरे रूप और रंग को इतना बदल दिया कि वे ही लोग मुझे पहचान नहीं सके, जो किसी वक्त मेरे पुराने

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

परिचितों में थे।

उमंगों की श्रावण-सरिता जवानी की पहाड़ी तलहटी से वेगपूर्वक बही जा रही थी और उसके खर-प्रवाह में पड़कर मैं भागा जा रहा था, भागा जा रहा था काष्ठ-खण्ड के समान।

जब काल के पिच्छल दुकूल पर फिसलता-गिरता वसन्त फिर अपने कुसुम-भवन में पहुँचा, तब कोकिला ने चिल्ला-चिल्लाकर संसार की वियोगिनियों को सावधान कर दिया—"विरहिनि, सावधान ह्वै रहियो !...."

और निकट के माधवी-कुंज से समीर का जो एक सुगन्धित झोंका मेरे कपोलों पर बिखर गया, तो मेरे प्राण कण्टकित हो गये।

संध्या का समय था।

और लान....एग्जिबिशन रोड....स्टेशन....मैं द्रुतगति से चलकर उसी पार्क में पहुँचा, जो कभी-कभी मेरे व्यथित मानस को शान्ति और तृषित आत्मा को सन्तोष प्रदान करता है।

तितलियाँ।....तितलियाँ !!....तितलियाँ !!

मैं इन तितलियों से परेशान हो गया।

उपवन के मुक्ताकाश में स्वच्छन्द-रूप से सुमन-सुमन का रस लेकर विहार करनेवाली उन तितलियों से भौतिक संसार के कृत्रिम वातावरण में पलनेवाली इन तितलियों में कितना अन्तर है !

दिन-रात ऊँची चौड़ी चहारदीवारी से घिरे हुए जेल-सरीखे मकान में बन्द रहना....घर से कालेज तथा कालेज से घर....फुरसत के वक्त में बाजार....शाम को पार्क, गंगा-तट या सिनेमा....किसी को देखकर मुस्करा देना, व्याज से सिर का अंचल सरका देना, आप-ही-आप खिल-खिला पड़ना, रास्ते में चलते-चलते इत्र से तर रूमाल गिरा देना और रुककर, लौटकर फिर उसे उठा लेना....

ये कलाएँ हैं, जिनकी अभ्यस्त हैं....घरों की तितलियाँ !....और जिनका प्रयोग होता है उन गरीब अभागों पर, जो कुल-परिवार से दूर,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

आधुनिक सभ्यता के पुण्य-पीठ विशाल नगरों में, अपने मा-बाप की गाढ़ी कमाई के बल किसी परी की चपल चितवन पर गुजराती लिपि की शिरो-रेखा के समान मिट जाने को सदैव तत्पर रहा करते हैं।

नयी रोशनी की तड़क-भड़क में, विलासिता की वायु पर तैरती हुई ये तितलियाँ····

रंग-बिरंगी पोशाक, चमकीला बदन, चमचमाते जूते, पीठ पर काले लहराते बाल, कानों में झूलता इयर-रिंग और गले में सोने का पतला हार····

कालेज की गुलाबी क्यारियों से, गंगा के संकीर्ण किनारे पर, शहर की चक्करदार गलियों में हठात् इन खूबसूरत तितलियों से मुलाकात होती; जान-बूझकर एक-दूसरे के नजदीक खिचते-से चौंक पड़ते और आसमानी सारी के लहरदार किनारों से साँची-धोती के उड़ते हुए छोर छूते-छूते बच जाते।

वह कुछ दूर आगे बढ़कर, ठीक उसी समय पीछे घूमकर देखती, जिस समय यह जरा-सी गर्दन फिराकर आँखों को तिरछी करता····

कि किसी अज्ञात अभिप्राय से दोनों का हृदय खिल जाता····

और जब नगरों में मकानों के अन्दर बिजली का स्विच दबता तथा ग्रामों में कुल-वधू द्वार पर मिट्टी का दीपक जला देती,····तब मैं था, पार्क में,····

सामने चमेली के कुंज, चारों ओर से मेंहदी की क्यारियाँ और बीच में दूबों का मखमली बिछावन।

मैं वहीं लेटा-लेटा कल्पनाओं का एक नया ही संसार बसा रहा था।।

मृगतृष्णा····हिश !····रूप,····वह देखो,····पश्चिम में संध्या के मेघ····यौवन····पावस में इन्द्रधनुष के अस्तित्व से भी अस्थिर····प्रेम, ····क्षणिक,····एक मोह····एक भ्रम····एक भूल····

कि सहसा कुंज से किसी का कोमल कंठ-स्वर निःशब्द उपवन में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पुष्पों के प्राणों से झूलने लगा !

संध्या का रक्तिम अनुराग रजनी के सघन अंधकार में परिवर्तित हो चुका था और पार्क के लतावेष्टित द्वार के उस पार. जो राज-पथ हाईकोर्ट की तरफ जाता था, उस पर लगी बिजली की प्रज्वलित रश्मियाँ चेष्टा करने पर भी बाग में नहीं आ सकती थीं। लोहे के काँटेदार तारों की फेन्सिग पर फैली हुई अपराजिता की बेलियों से ही उलझ-उलझकर रह जाती थीं।

वह मधुर गीत-लहरी मेरे कानों से हृदय में प्रवेश कर सारे तपोबल को आन्दोलित करने लगी--'प्रेम-नगर में बनाऊँगी घर मैं····तज के सब संसार !"

"प्रेम-नगर में····" मैंने चौंककर सुना, यह किसी रमणी के सुमधुर कंठ से निकली हुई झंकार है और उसके बाद किसी पुरुष ने उसके कंठ में अपना कंठ मिलाया—"प्रेम का घर हो,····प्रेम का आँगन····प्रेम ही का····"

प्रेम···प्रेम···तो क्या इस दुनिया में प्रेम के सिवा और कुछ भी नहीं है।

यह आकाश···यह चन्द्रमा···यह सूर्य···ये तारे···नक्षत्र···पृथ्वी ···पर्वत···कानन···सागर···नदियाँ···क्या संसार में इनका अस्तित्व इतना नगण्य है और एक युवती···उसके नयन,···उसके अधर,··· कपोल,···चिबुक,···वक्ष,···कटि···और प्रेम···प्रेम···

क्या यही प्रेम है ?

सहसा किसी की खिलखिलाहट की आवाज आई।

···खिलखिलाहट !

और···"प्रेम-नगर में बनाऊँगी घर मैं···"

क्रमशः गीत की ध्वनि गूँजती ही गयी और उसकी प्रतिध्वनि से मेरा सम्पूर्ण अन्तःप्रदेश आकुलित होने लगा।

क्षण-भर शान्ति···

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

कुछ अस्पष्ट-सा शब्द होता, जैसे दो कोमल पुष्प-दल आपस में मिले हों और एक प्रकार की चरमराहट-सी आवाज होती; मानो कपड़े घिसे हों, भूषण हिले हों या पौदों में ही मानव के शरीर से कोई मृदुल संघर्षण हो गया हो !

फिर वही मधुमय प्रवाह—"प्रेम-नगर में !...."

अब मुझसे लेटा न गया। मैं बैठ गया। परन्तु कुछ ही देर के बाद मुझसे बैठा भी नहीं गया। मैं खड़ा हो गया।

ज्यों ही मैं खड़ा हुआ, त्यों ही मालूम पड़ा कि कोई अज्ञात शक्ति कुंज की ओर मुझे बलात् खींच रही है।

मैं निरावलम्ब-सा उधर ही बढ़ चला।

कुंज में तब भी हवा किसी से अठखेलियाँ कर रही थी और कोई मुझे अजगर की साँस-सा उधर ही खींच रहा था।

निकुंज....चमेली का....ताजे, खिले हुए, उजले-उजले, 'तारों-से फूल....उड़ती हुई सुगन्ध की लपटें और उनमें केसर-कस्तूरी के समान अलका की केशराशि से पद्मराज का सौरभ निकल-निकलकर मिश्रित हो रहा था।

मैं धीरे-धीरे वहाँ पहुँचा और उनके सम्मुख प्रस्तर-मूर्ति की तरह अचल खड़ा हो गया।

वहाँ....

मैंने देखा, वहाँ एक बेंच पर, निकुंज से सटकर, लताओं की ओट में, दो व्यक्ति....

मेरा आश्चर्य,.... !

दो व्यक्ति....एक स्त्री और दूसरा पुरुष।

स्त्री दुबली-पतली, लम्बी, गोरी, छरहरी, पतली-पतली उँगलियाँ, गोल मुँह, बड़ी-बड़ी आँखें....

और, वह रात,....शुक्ल-पक्ष की चतुर्दशी....पूर्णोज्वल चन्द्रिका....मन्द-मन्द मारुत,....व्योम में मेघ के कुछ शिशु-खण्ड....अनुपम निशा-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

कर···बादलों से आँख-मिचौनी खेलता हुआ···

और, चन्द्र-देवता बादलों के घूँघट से ज्यों ही निकले, त्यों ही उस एक क्षण में मैंने यह भी देख लिया कि उस चमकीली लड़की के गोरे-गोरे गालों पर, शुक-नासा की तराई में, एक छोटा-सा काला तिल भी···चन्द्रमा में कलंक के समान,···जो हिमानी के तरल-तुषार-कण से भी छिप नहीं सका।

अर्ध-नग्न वे···

वे आमने-सामने बैठे एक दूसरे पर झुके थे, कुछ असंयत,··· संशयजनक परिस्थिति में,···अधीर, उत्सुक, उत्कण्ठित !

मैं खड़ा था, अचेतन के समान।

और वे सचेतन प्राणी···जिनके स्नायु-मण्डल में अग्नि का उष्ण स्रोत प्रवाहित हो रहा था, बेखबर थे,···बेसुध थे···तन्मय थे···तल्लीन थे।

प्रेमनगर का निर्माण हो चुका था और उसमें प्रेम का घर, प्रेम का आँगन, प्रेम की दीवार और प्रेम की छतें लग चुकी थीं। इतना ही नहीं, मजदूर भी प्रेम ही के थे; और ईंट, चूना, सीमेंट, सुर्खी··· सभी प्रेम के और उसमें प्रेम का एक परिवार भी बस चुका था।

मैं चकित था, प्रेमनगर में आकर और प्रेमियों की प्रणय-लीला देखकर।

और मेरे सामने ही दोनों मस्त मौजी जीव एक दूसरे को निगूढ़ आलिंगन के बन्धन में बाँधकर थर-थर काँपने लगे। पुरुष ने स्त्री के कपोल पर अपने निश्चेष्ट अधर रख दिये और स्त्री ने उन अधरों को खींचकर अपने अनुरागी अधरों पर रख लिया !

मेरे शरीर में अँगड़ाइयाँ आने लगीं।

और वे युगल प्रेमी अधराधरों के उस पारस्परिक विद्युत्-स्पर्श से इतने अचैतन्य हो गये कि शव के समान निष्क्रिय होकर अपने सम्पूर्ण भार से बेंच पर अलसित—निस्पन्दित विवश पड़े रहे।

अब तक जो प्रेमनगर केवल गीतों में ही उपवन को स्वर्ग बना

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

रहा था, प्रेमियों के मधुर मिलन से, वही प्रेमनगर साक्षात् स्वर्ग बन-कर, चमेली के कुंज में, प्रणयाभिसार का लीलानिकेतन रचने लगा।

युवती के वस्त्र पूर्ण रूप से स्खलित थे, कटि के ऊपर का भाग सम्पूर्ण नग्न, मुक्त कुन्तल···नीले रंग की रेशमी कंचुकी, बाहु के मूल तक,···और समूची बाँह नंगी, सुडौल, परवश,···और युवक के शरीर में तसर का पंजाबी,···चादर,··· खुले बटन, जिसके नीचे गंजी और वक्षःस्थल की दुर्बलता स्पष्ट मालूम पड़ती थी।

मैंने गौर से नारी के मुख-मण्डल को देखा। चाँदनी रात में··· चन्द्रमा के प्रकाश में··· मधुमास के सरस आंदोलन में,···उपवन के एकान्त,वातावरण में, मलयानिल के मादक उत्तेजन में,···

प्रसाधन से प्रक्षिप्त, गौर-कान्ति, स्वच्छ··· धवल चाँदनी युवती के सम्पूर्ण वदन पर बिछली-सी पड़ती थी।

और कपोल पर··· और अधरों पर, मैंने देखा, चन्द्रमा के उज्ज्वल प्रकाश में···वे स्थान, जहाँ पुरुष के अधर पड़े थे···म्लान,····फीका···· असुन्दर ··जैसे, रंगीन कपड़े पर पानी के छींटे पड़ गये हों!····और, वहाँ,··· एक अनाकर्षण,··· एक लांछना,··· एक अपमान!

क्या यही सौन्दर्य है?

इतना अप्राकृतिक···इतना क्षणिक,···इन कागज के फूलों पर कौन विश्वास करे?

और यौवन···इतना व्याकुल···इतना विवश···गरम लोहा,··· जिधर चाहो, ठोक-पीटकर मोड़ लो!

तरुणी अपरिचिता-सी लगी; किन्तु, चाँदनी रात में मैंने देखा, वह पुरुष···गणेश···गणेशप्रसाद···गणेशप्रसाद वर्मा···

मेरा सहपाठी,···सहवासी,···सहभोजी,···और वह?

मैं जानता था गणेश को। सुन्दर गणेश,···धनवान् गणेश··· रसिक गणेश···और गणेश में जितने गुण थे, उतने ही दुर्गुण भी!

एक सम्पन्न-सुशिक्षित माता-पिता का एकमात्र पुत्र; प्यार और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

धन की गोद में पला; आनन्द और विलास से पूजित; लाखों रुपयों के शुभ्र ढेर पर आराम से बैठा गणेश···

आज,···

तितलियों के पंखों में···

मोटर और परियाँ; होटल और पार्क···उसके जीवन के संकेत अर श्रान्त यात्री का विश्राम-स्थल !

छाया···और···धूप !

"गणेश !" मैंने तीक्ष्ण-कण्ठ से पुकारा—"गणेश !"

आशिक और माशूकों की उस बेहोश दुनिया में एक अनोखी हलचल हुई और दोनों ने आँखें खोल दीं···चाँद,···चाँद की रोशनी···फूलों की खुशबू···ठंडी-ठंडी बयार और फसले-बहार की खिलखिलाहट ···और रात के आठ बजे···नजदीक ही रेलवे स्टेशन से पंजाब-मेल फक्-फक् करती हुई छूट चली !

एक युग के बाद मानो, उन्हें खबर हुई। पार्वती की तपस्या पूर्ण हुई और भगवान् पशुपति का ध्यान भंग हुआ।

युवती घबराकर, भयभीत उठ खड़ी हुई और कुछ लज्जा से, कुछ व्रीड़ा से, कुछ कौतुक से अपना शरीर, वस्त्र और केश सँभालने लगी। और गणेश···

वह उठा, जैसे नींद से। मुझे देखा, जैसे स्वप्न में और चौंका, जैसे, आसमान पर !

"तुम ?···" वह बोला—"तुम !···यहाँ कहाँ ?"

"और यही सवाल मैं तुमसे करूँ, तो तुम क्या जवाब दोगे ?"

"इधर आओ" उसने मेरा हाथ पकड़कर खींचा और कुछ दूर ले जाकर कहा—"पहचानते हो, वह कौन है ?"

और मेरे उत्तर की प्रतीक्षा न कर बोलता ही गया—"वह मि० अब्दुल रज्जाक की लड़की,···बार-एटला···न्यू एरिया के···मेरी प्रेयसी ···आओ, तुम्हें इन्ट्रोड्यूस कर दूँ···हाथ मिलाओगे न ?"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मैंने कनखियों से देखा, वह लड़की अब तक सँभल गयी थी और झुककर चमेली के फूल तोड़ रही थी।

"नहीं मुझे माफ करो !" मैंने कहा—गणेश ! नारियों से मुझे भय होता है···और खासकर युवतियों से !···इतनी खौफनाक, खतरनाक, और···कठोर···मैं जाना चाहता हूँ, गणेश !"

"तो, चलो···मेरे साथ !" उसने कहा—"बाहर मोटर लगी है !"

"और वह ?" मैंने कहा—"तुम्हारी प्रेयसी ?"

"वह भी चलेगी···हमीं लोगों के साथ !"

"तो तुम जाओ···गणेश !···मैं अकेला ही होस्टल चला जाऊँगा। मुझे सख्त अफसोस है कि मैंने तुम्हारे सुख में विघ्न पहुँचाया। जाओ ···चाँदनी रात है···और वसन्त,···और मलयानिल····और दिल··· और उमंग····और प्रियतम और प्रेयसी···साकी भी है, चमन भी है, ठंडी हवा भी है !····जाओ मौज करो !···मुझे छोड़ दो !"

मैं गणेश को वहीं छोड़कर एक बार तिरछी आँखों से फूल तोड़ती हुई उस लड़की को देखकर फौरन पार्क से बाहर निकल आया।

सड़क सुनसान थी।

हाँ, स्टेशन-रोड पर लारी, मोटर, फिटन, टमटम और आदमियों की भीड़ थी। मैंने वह रास्ता ही छोड़ दिया।

फ्रेजर रोड, बैंक रोड, गोल-घर,···साढ़े तीन मील का चक्कर लगाकर डेरे पर पहुँचा। तन श्रान्त, मन श्रान्त, सारी विचार-शक्ति श्रान्त।

खाना और सोना···

तमाम रात,···एक ही हृदय, एक ही कहानी, एक ही कण्ठ-स्वर ····पार्क, फूल,···गणेश,···वह लड़की····चमेली का कुंज···मीठी हवा ····और प्रेमनगर···

"····प्रेम-नगर में बनाऊँगी घर मैं···" चाँदनी रात···तितली, ···फूल···हवा···आसमान····सितारे···यौवन····सौंदर्य और प्रेम !

सुबह तक यही हाल रहा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

और, उसके तीन वसन्त के बाद मैं अपने गाँव में था।

देहात में मधुमास दिन भर पीपल की उदास छाया में, पीले पत्रों की सुकुमार मर्मर-शय्या पर लेटा-लेटा ऊँघता रहता और निस्तब्ध रजनी में, जब संसार के कर्म-शिथिल प्राणों में निद्रा का प्रवेश होता, वह विपिन-विपिन में अपनी बाँसुरी बजाता एवं अपने चरणों की नूपुर-ध्वनि से वनराजि को चकित-पुलकित करता।

इसी वसन्त के साम्राज्य में मेरी एक पर्ण-कुटी थी, जिस पर कभी-कभी कोयल अपने पंचम-स्वर में ऋतु-पति का आगमनी गीत गा जाती।

मैं सुनता रहता।

एक दिन मेरे कुटीर में उत्सव हुआ।

गृह-देवी की पूजा थी। मैं उसी के निमित्त वन-चमेली की झाड़ियों से उजले-उजले फूलों को तोड़ रहा था। मेरे हाथों में पूजा की थाली थी और मस्तक पर श्रीखण्ड का चन्दन! मैं फूलों को चुन-चुनकर उसी में रखता जा रहा था। अचानक····

अचानक वह दिखाई पड़ी।

वैसा ही रूप, वही आकार, वही सौन्दर्य और वही··· वही··· अवश्य ही यह वही थी।

मैं पहचान गया। हाँ, वही—जो, आज से लगभग तीन वर्ष पूर्व मेरी आँखों में धूल झोंककर, मुझे धोखा देकर, छलकर, अचानक तरु-कुंजों में अन्तर्द्धान हो गयी थी। वही छलनामयी!

मैं पहचान गया।

वह मेरी डाली में आकर बैठ गयी। फिर, घूम-घूमकर भाँवरें भरने लगी।····फिर, बैठ गयी।

मुझे जान पड़ा, जैसे इन तीन वर्षों की लम्बी अवधि तक मैं जिसकी खोज में व्याकुल हो रहा था, आज वह स्वयं इस रूप में मेरे आगे प्रत्यक्ष हो गयी।

मेरा जन्म सफल हुआ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जैसे, अब कोई इच्छा ही नहीं रही मेरे मन में।

आनन्दातिरेक से मैं उन्मत्त हो गया।

न पूजा का स्मरण रहा और न फूलों का।

भागा घर की ओर।

और, देवी के सामने''''प्राण, यह क्या ?

और क्या मेरे अन्तर्यामी ?

कल्पना''''

निर्वाक्,''''निश्चल,''''निश्चेष्ट,''''निर्निमेष''''

प्रतिमा की ओर देख रही है।

आँखों में आँसू,''''श्वेत वस्त्र,''''एकवसना''''निर्गन्ध केश-गुच्छ,''''यौवन के प्रकाश से दीप्त आनन''''फुल्ल कमल-दल के समान लोचन''''प्रशान्त कपोल, स्फुटित अधर''''

एक क्षण के सौवें भाग में मैं पहुँचा, उस युग में''''जहाँ पारद-सा चंचल शैशव, उषा-सा हँसता-खिलता मुख और कौतूहल से प्रति-पल व्याकुल चरण !

अमरूद का पेड़''''धृष्ट-चपल बालिका''''सुन्दर-सुन्दर फल''''मेरा घात''''और, फिर''''सारा अमरूद का पेड़ किसी के नूपुर के मधुर शब्दों से गूँजने लगा।

मैंने देखा, कल्पना''''युवती''''परिपुष्ट अंग अवयव''''सम्पूर्ण यौवन''''सीमाहीन, अतल, गम्भीर''''एक-एक रोम में अनन्त माद-कता''''क्षुधित व्याघ्र-सा रूप''''

वह धीरे-धीरे गुनगुना रही थी—"या देवी सर्व-भूतेषु मातृरूपेण संस्थिता''''"

कितना भव्य रूप''''पार्वती की तपस्या''''सीता का अग्नि प्रवेश''''सावित्री का सतीत्व''''मदालसा की कठोरता''''

"''''नमस्तस्यै, नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमो नमः''''"

और देवी के सम्मुख फूलों की डाली लेकर मैं खड़ा हुआ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

तो, क्या यही कल्पना ...?

डाली मेरे हाथ से छूटकर नीचे गिर पड़ी। सारे फूल देवी की प्रतिमा के चरणों पर बिखर गये।

और, कल्पना तन्मय थी, ध्यान की मुद्रा में। निश्चल, अपलक, एकाग्र-मना,....देवता की मूर्ति के समान...

"मेरे चोर"..."देवता मेरे" मैंने कहा और सभी फूलों को अंजलि में भरकर कल्पना के पैरों पर डाल दिया।

वह तब भी अटल थी।

जो फूल चढ़ते देवी के मस्तक पर, उन्हें मैंने बिखेर दिया कल्पना के चरणों में।

मैं नहीं जानता, ऐसा मैंने क्यों किया ? .. वह एक अज्ञात शक्ति थी, जिसने अदृश्य रूप से मुझे प्रेरित किया। मैं तत्काल कल्पना के श्री-चरणों में प्रार्थना-सा विनत हो गया।

यदि प्रतिमा में जीवन होता, तो वह निश्चय ही मेरी सरलता पर खिलखिलाकर हँस पड़ता...लेकिन, पत्थर को दूसरों के सुख-दुःख से क्या ?

वह न हिली, न डुली; परन्तु, देवी की सजीव शुभ्र मूर्ति से जो एक ज्योति की पवित्र धारा निकली, उसने पुण्य-सलिला जाह्नवी के समान मेरी आत्मा को परिप्लावित कर दिया।

जब किसी प्रबल शक्ति ने बलात् मेरे विकंपित करों में तूलिका रख दी, तो, मेरे हृदय में भावों के बादल उमड़ आये।

उस दिन आँसुओं की स्याही से जो टेढ़ी-सीधी लकीरें मैंने खींचीं आपस में मिलकर वे सभी एक तस्वीर बन गयीं।

एक दिन दुनिया के लोगों ने विस्मय-विमुग्ध लोचनों से देखा, उस तस्वीर के पर उग आये हैं; सोने के, हीरे के, मानिक के, नाना रंगों में, नाना प्रकार के।

एक दिन वह तस्वीर भी अपने सुनहले पंखों को फैलाकर अनन्त आकाश में उड़ गयी।

मैंने उसका नाम रख दिया—तितली।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

छिन्नमाल

तब मेरे जीवन का अंकुर फूट ही रहा था।

मसें भींग रही थीं; और, उनपर जवानी उसी तरह मुसकिरा रही थी, जिस तरह शरत-प्रभात के दूर्वादल पर ओस की बूँदें—दिनकर की किरणों से।

यह वह जमाना था, जब शैशव विदा माँग चुका था; कैशोर आँगन में नाच रहा था और तरुणाई उन दोनों के सन्धिकाल में, किवाड़ के दोनों पल्ले खोल, 'अध भीतर अध बाहरों' से झाँक रही थी।

दुनिया की तस्वीर मेरी आँखों में समा चुकी थी और किसी चतुर चितेरे ने मेरी खुमारी-भरी पुतलियों में उमङ्गों की स्याही से नीली-पीली रेखाएं खींच दी थीं।

मैं पागल हो गया।

दुनिया मुझ पर फिदा थी, मेरी मस्ती पर; मैं फिदा था, दुनिया पर; उसकी इन्द्रधनुषी साड़ी पर!

और, बेखबरी के ऐसे ही दिनों में एक दिन वह मुझे मिली।

मैं कालेज का विद्यार्थी था।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

नया-नया देहात से आया था सही; फिर भी, रहन-सहन बात-चीत में एक ऐसा अलबेलापन था—जो, पीछे दोस्ती और परिचय के लिये चुम्बक-सा सिद्ध हुआ।

और, अपने असाधारण स्वभाव का फल यह हुआ कि कुछ ही दिनों में मैं अपने बोर्डिङ्ग-हाउस में जादू-सा मशहूर हो गया।

हाँ, वे दिन ऐसे ही थे। मेरे हाथ में अलादीन का चिराग था और मेरे सामने स्वप्नों की दुनिया; मैं अकेला नहीं था। मेरे पीछे सैकड़ों अरमान आँधी के समान चल रहे थे।

मैं जिसे देखता, वही सुन्दर लगता और जो सुन्दर लगता, उसे ही पाने की इच्छा करता।

किस जादूगर ने मेरे कन्चन से कलेवर पर रङ्ग-बिरंगे बेल बूटे काढ़ दिये, धीरे-धीरे और चुपचाप; मुझे कुछ भी पता नहीं। और, एक दिन जब सावन-भादों की गरजती हुई गंगा में अकेला ही कूद पड़ा, तब मैंने समझा, अब जवानी आ गयी।

और, सचमुच तब जवानी आ गयी थी।

मेरे दिल में अज्ञात-रूप में कोई अभाव पैदा हो चुका था और मैं कुछ सूना-सूना-सा अनुभव कर रहा था। खिड़की खुली थी; हवा का एक झोंका इधर से आता और तीर की तरह उधर, दरवाजे से, निकल जाता। और, आधी-रात के गम्भीर सन्नाटे में जब कभी मेरी नींद एकाएक उचट जाती, तो फिर लाख बुलाने पर भी नहीं लौटती।

नीचे सड़क पर, ज्यों-ही सिनेमा के सेकेन्ड-शो से लौटते हुए इक्केवाले की सुरीली तान हवा में गूँजती, इठलाती और तैरती मेरे कानों में पहुँचती—'मय भी है, मीना भी है, सागर भी है, साकी नहीं'; त्यों-ही आप ही आप मेरे मुँह से अगली पंक्ति निकल पड़ती—'जी में आता है लगा दें आग मैखाने में हम !'

और, तब करवटों के बल पर सुबह होती।

जिन्दगी की इस आँख-मिचौनी में एक दिन मैंने उसे देखा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

शाम का वक्त था। पश्चिम-क्षितिज पर दिवाकर केवल एक रक्तिम प्रकाश-पिण्ड के रूप में रह गया था। और, दिन को छिपते देखकर, उल्लू की तरह, नगर का मानव-समाज राज-पथ पर निकल पड़ा था।

जहाँ की बात मैं कर रहा हूँ, उसे आप मजे में पटने का प्रवेश-द्वार कह सकते हैं। और जिस सड़क पर वह खड़ी थी, वह शहर का सबसे ज्यादा व्यस्त हिस्सा है। सड़क के दोनों किनारे बड़े-बड़े मकान, आलीशान दूकानें, सिनेमा, कालेज और होटल; दियासलाई के डब्बों में माचिस की सीकों की तरह उनमें आदमी भरे थे।

हाँ, शाम का वक्त था और मैं सिनेमा देखने जा रहा था।

जरूरत से ज्यादा साथियों को मैं पसन्द नहीं करता और सिनेमा-हाउस में तो वाकई, मुझे किसी दोस्त की जरूरत महसूस नहीं होती। मुझे अकेलापन ही अच्छा लगता और यों उस दिन भी अकेला ही था।

होस्टल से निकल कर सड़क पर आया और वह छोटी-सी सड़क मुझे सीधे चौराहे पर पहुँचा कर स्वयं अन्तर्धान हो गयी।

अब मैंने अपने को एक नयी ही दुनिया में पाया, जहाँ भीड़ थी, कोलाहल था, हलचल थी।

मैंने घबराकर फूट-पाथ की शरण ली। घबराकर।

सामने सड़क पर तरह-तरह के लोग आ-जा रहे थे। जिनमें मर्द भी थे, औरतें भी; जवान भी थे, बूढ़े भी और लड़के भी। और पशु भी। और, सबसे बढ़कर अनोखे जीव—कालेज के छोकड़े; सँवारी हुई पट्टी और कदम-कदम पर बलखाती हुई चाल। मिस मनोरमा और कुमारी विमला के प्रशंसा-गीतों से प्रति-मुख मुखर।

सहसा मैंने उसे देखा; और, मेरी दृष्टि जो एकबार उधर गयी, तो फिर जल्द वापिस नहीं आयी। नहीं आयी।

झुटपुटा अँधेरा—शाम उतनी घनी नहीं हुई थी, जितनी के बाद रात आती है और वह भी ऐसी कि तमाम चीजें साफ-साफ नजर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

आ रही थीं।

मैंने देखा, निकट-ही, बिजली के खम्भे के पास तेरह-चौदह साल की कोई लड़की खड़ी है और उसकी उँगलियों से, एक पतले तिनके के सहारे, दो-चार चमेली की मालाएं लटक रही हैं !

मेरे ध्यान को खींचने के लिये कुछ कम सामान नहीं था; परन्तु इतना जरूर है कि उस लड़की को आप खूबसूरत नहीं कह सकते। और, न उसमें कोई ऐसी खास बात ही थी, जो राह-चलते मुसाफिरों को जबरदस्ती पकड़ लावे !

मगर, उसकी सीधी और निश्छल आँखें पुकार-पुकार कर कह रही थीं कि उसका हृदय भी इतना ही सीधा और निश्छल है। इसमें तिल-भर भी सन्देह नहीं।

एकबार जो उसकी पुतलियां मेरी पुतलियों से टकरायी, तो, बरबस उसकी पलकें फलों से लदी हुई डाल की तरह नीचे की ओर झुक गयीं।

'माला चाहिये क्या, बाबूजी ?' आवाज पीछे की तरफ से आयी और घूमकर जो मैंने उधर देखा, तो, वहां भी एक ही पंक्ति में तीन-चार माला वाले खड़े दिखायी पड़े।

'लीजिये न !' उनमें से एक ने जरा आगे बढ़कर आंखों के इशा से मुझे कहा।

मैं विक्रय की इस पद्धतिका कायल नहीं। मुझे बुरा लगा।

'नहीं।' सिर्फ एक ही शब्द में इतना छोटा-सा उत्तर पाकर वह बेचारा चलते-चलते रुक गया और इस बार मैंने बड़े साहस के साथ उस लड़की से पूछा।

मेरी गोष्टी के मित्र मुझे प्रथम श्रेणी का रसिक और सौन्दर्यो-पासक समझते है; परन्तु. सच कह दूँ — यहाँ ऐसी कोई बात नहीं थी।

मैंने पूछा, "तुम माला बेचोगी ?"

चाँदी या तांबे के कुछ गोल-गोल टुकड़ों के लिये न उसने किसी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

के आगे रोना सीखा था और न हँसना। और उसकी यही वृत्ति मुझे सबसे अधिक अच्छी लगी।

उसीके अन्य सहयोगी वहीं पर अपनी वस्तुओं का यथेष्ठ विज्ञापन कर रहे थे, शोर मचा रहे थे और वह बिजली के खम्भे के पास, ग्राहकों की प्रतीक्षा में चुपचाप खड़ी थी।

शायद उस भोली-भाली लड़की को यह बात मालूम नहीं थी कि आजकल के जमाने में बिना प्रोपेगण्डा या प्रचार के अच्छी-अच्छी चीजें भी पड़ी-पड़ी सड़ जातीं; और, विज्ञापन के बल पर सड़ा से सड़ा माल भी खरीदारों के पास पहुँच जाता है।

उसे व्यवसाय की इस आधुनिक कलाका रत्ती-भर भी ज्ञान नहीं था; और इसीलिये मेरे प्रश्न पर वह आवश्यकता से अधिक चौंक पड़ी!

अपने करुणा-जनक लोचनों में राशि-राशि विस्मयका भाव भरकर उसने कहा -'हाँ।'

एकबार उसके अधर फड़के और एकबार उसकी पलकें खोलीं और फिर दोनों चुप। मगर, उसके कपोलों पर आनन्द की जो एक क्षीण आभा अंकित होकर रह गयी था, उसे किसीने नहीं मिटाया।

"एक माला के कितने पैसे लोगी?" मैंने फूलों को अपनी उँगलियों से छूकर कहा कि सचमुच एक माला आप से आप मेरे हाथों में आ गयी, तिनके से छूटकर; अयाचित वरदान के समान। और, उसे मैंने आज-कल के फैशन के अनुसार अपनी दाहिनी कलाई से लपेट लिया।

मेरा यह व्यवहार उचित था या अनुचित—मैं इसकी विवेचना नहीं कर सकूंगा। परन्तु बालिका मेरी इस युवकोचित धृष्टता पर, न जाने किस आशंका से सजल-सी हो उठी।

'जो आप खुशी से दे देंगे' जैसे कुछ नपे-तुले शब्दों में ही उसने अपने सारे मनोभाव प्रकट कर देने की कोशिश की।

मेरी कातरता सीमा को पार करने लगी और उसका सारा साहस

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

आँखों में सिमट गया।

"परन्तु, मैं सब लूँगा। सब एक ही बार खरीद लूँगा।" उसे प्रसन्न देखने की इच्छा से मैं बोला और तब मैंने देखा, उसके मुख-मण्डल पर गुलाबों की वह विशेषता नहीं, जिसकी थी मुझे आशा।

"बस, चार पैसे आप दें।" वह अविचल और मैं अवाक्!

कुल चार! चार पैसे। एक आना। और पाँच मालायें! पैसे के हिसाब से पाँच मालाओं के पाँच पैसे हुए। एक पैसे छूट मुझे मिली थी।

मैं खुश था उसे खुश देखकर। काश मेरी खुशी का अन्दाज वह लगा सकती! परन्तु, उसकी विनत दृष्टि इस बात से साफ इनकार कर रही थी।

मैंने जेब में हाथ दिया, एक चवन्नी निकल आई।

"चवन्नी लो; और बाकी पैसे मुझे वापिस कर दो।"

"पैसे तो नहीं हैं, बाबूजी।"

"एक भी नहीं?" मैं जानता था कि उसके पास अगर एक पैसा हो भी तो कुछ होना नहीं। लेकिन, फिर भी पूछ ही तो दिया। और, इसका उत्तर भी वही मिला, जो मिलना चाहिये। अर्थात्—'नहीं।'

'तो?' मैं एक कदम और आगे बढ़ा। वह और पीछे हट गई।

"तो, मैं क्या करूँ सरकार?" उसने वैसे-ही द्रवित-स्वरों में कहा। उसके ओठ फड़के और वह बोली, "जैसी आपकी मर्जी!"

"उन लोगों के पास नहीं होगा?" मैंने पासही खड़े और मालियों की तरफ इशारा किया। वे अपने व्यवसाय में व्यस्त थे। इतने व्यस्त कि उन्होंने मेरी बातें सुनी नहीं!

"क्या जानूँ?"

"वे लोग तुम्हारे कौन होते?"

"रहते तो पड़ोस में ही; सम्बन्ध भी कुछ होगा ही; परन्तु, यों कोई नहीं!"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"क्यों ?" मेरी जिज्ञासा रुकती नहीं।

"बहुत लम्बा किस्सा है बाबूजी," उसकी आवाज काँपने लगी, बड़ी लम्बी कहानी है। देखिये, शाम हो गयी। दूर जाना है। घर में अकेली बूढ़ी माँ। मैं ही एक सहारा। दिन-भर की भूखी होगी। और, इधर मेरी परेशानी। फूल नहीं बिके, तो गुजर नहीं।'

मेरा दिल पानी-पानी हो गया।

"अच्छा, तो यह चवन्नी लो। माँ को देना। और, कल आओगी न ?"

"कल बाकी पैसे लिये आना।"

"अच्छा।"

"भूलोगी तो नहीं ?"

"नहीं।"

"सो ही। जरूर आना। और, यहीं पर रहना। किसी दूसरी जगह जाने की जरूरत नहीं। मैं इसी वक्त यहीं आऊँगा। तुम्हें तलाश कर लूँगा।"

पाँचो मालाएँ मेरे बाहुओं में बँध चुकी थीं और तब-तक वह चवन्नी भी उसके मैले, फटे और छोटे अंचल के एक छोर में स्थान पा चुकी थी।

"समझीं न ?" चलते-चलते मैंने कह दिया और उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही, कहते-कहते चल दिया!

धरती की सतह पर शाम की अँधियाली झुक चुकी थी और शहर की दूकानें बिजली की नीली-हरी रोशनियों से जग-मग कर रही थीं।

मैं निकला था सिनेमा देखने। जेब में कुल चार आने पैसे; जैसे, उसे देकर मेरे शरीर और मस्तिष्क का सम्पूर्ण भाग उतर गया हो!

मैं वहीं से लौट आया।

सिनेमा देखने नहीं गया; मेरे मनके रुपहले पर्दे पर दूसरी ही

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

तस्वीरें नाच रही थीं !

गलियों का जन-रव शिथिल हो चुका था; मेरी कल्पनाओं ने कोलाहल करना शुरू किया।

होस्टल में लौटते ही मैं अपने बिछावन पर लेट गया।

रात-भर चमेली की मस्त खुशबू से मेरी कोठरी तर रही; रात-भर उस फूल-बालिका की स्मृति दीप-शिखा की तरह मेरे अन्त-प्रदेश में टिमटिमाती रही और रात-भर मैं रङ्ग-विरङ्गे सपनों से चौंक कर, उठ कर, बैठ कर सिहरता रहा।

कब खाया और कब खोया—मुझे कुछ भी याद नहीं।

और, सुबह हुई, तो पाया, मेरा सर भारी है। दिमाग-कमजोर और देह गरम।

दोस्तों ने कहा, बुखार और मेरे मनने जो-कुछ कहा, वह अब मेरी याद-दाश्त की सीढ़ियों से नीचे उतर गयी है।

लगभग एक हफ्ते तक मैं अपनी चारपाई पर लाचार रा।

इसे संयोग ही कहिये, और कुछ नहीं।

मैं विवश था।

चमेली की माला मेरे कमरे में बिखर गयी थी। फूल सूखकर पीले पड़ गये थे। पतली-सी नाजुक डोरी टूट गई थी और जिस धरोहर को मैंने प्राणों में छिपाकर रक्खा था, वह अचानक मेरी बेहोशी में तकिये से लुढ़क कर नीचे फर्श पर आ गिरी।

और एक दिन नादान नौकर ने कोठरी साफ करते वक्त उसे भी झाड़ू से बुहार कर खिड़की के बाहर फेंक दिया।

फिर भी मैं चुप था।

धीरे-धीरे सब कुछ भूल चला।

बीमारी के बाद जब मैं उठा, तब, न तो मुझे अपने पैसे की याद रही और न उस लड़की की।

हफ्तों मैं उधर निकला ही नहीं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जिन्दगी की रफ्तार ही ऐसी; दुनिया का रङ्ग ही ऐसा। संसार की इस बरसाती नदी में तिनके की तरह दो हृदय अकस्मात् मिलते और बलात् जुदा होते। उनकी इच्छा किसी काम की नहीं। अपने वेग पर उनका कोई अधिकार नहीं।

मेरे भी दिन आते; मेरी भी रातें आतीं, और, रात-दिन की इस धूप-छाँह में मेरा जीवन कभी साँप-सा रेंगता, कभी झरने-सा उछलता, कभी हवा-सा सरसराता, कभी तितली-सा उड़ता और कभी शराबी-सा लड़खड़ाता हुआ चला जा रहा था।

मुझे बेखबरी थी।

ज्ञात-अज्ञात सभी तरह की कामनाओं का समूह हृदय में तूफान की तरह हलचल मचा रहा था और मेरा छोटा-सा मनः सूखे पत्ते की तरह उस आँधी में नाच रहा था।

और, ऐसे ही दिनों में मेरा कालेज गर्मी की छुट्टियों के लिये बन्द हो गया।

बेहद खुशी, इतनी खुशी कि दिल में समा न सका। सारे बाजार में पहाड़ी नाले की तरह फूट पड़ा। और, उसके कलकल-गीत में वर्ष का सारा परिश्रम बह गया।

तीन महीने का वियोग—मित्र एक दूसरे से विदा माँग रहे थे। किसी की आँखों में आँसू थे, किसी के कण्ठ में आकुलता और कितने ऐसे भी सहृदय थे जिनके अधरों पर 'रुकती न हँसी।'

और, एक दिन वह भी आ गया जब सचमुच हमलोग होस्टल को छोड़ कर रवाना हो गये।

उस दिन, सारा दिन सामान खरीदने में खत्म हुआ। किसीने अपने छोटे-भाई के लिये खिलौने लिये, किसीने अपनी हँसमुख भाभी के लिये चूड़ियाँ और किसी ने अपनी खूबसूरत बीबी के लिये लिप-स्टिक, परन्तु आप यकीन करें—मैंने अपने लिये जवाकुसुम की एक शीशी के सिवा और कुछ नहीं लिया। कसम खिला लीजिए।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

तो, जहाज खुलने में सम्भवतः चौथाई घण्टे से ज्यादा देर न होगी, जब मैं अपने दोस्तों के साथ स्टीमर-घाट की ओर रवाना हुआ।

सामान बाँधते-बँधाते काफी देर हो चुकी थी और अब जहाज खुलने में कुछ ही मिनट बच गये थे।

हम तीन चार जने आसपास बैठे थे और अलकतरे से पुती, पक्की सड़क पर हमारा टमटम सरपट भागा जा रहा था। हमलोगों की बात-चीत का कोई दायरा नहीं। चाहे जिस विषय पर, चाहे जिस वक्त और चाहे जितने आदमियों में हमलोग हों, मजे में बातें कर सकते हैं और जब हमलोगों की गोष्ठी जम जाती, तो फिर विधाता भी उसे नहीं रोक सकते। साहित्य, समाज, राजनीति; कोई भी विषय ऐसा नहीं, जिससे हमारा परिचय न हो, जिसमें हमारा प्रवेश न हो और जिस पर हम घण्टे-दो घण्टे बहस न कर सकते हों। और, स्वर्ग, मर्त्य, पाताल; कोई भी ऐसा स्थान नहीं, जहाँ हमारी पहुँच न हो, दखल न हो, धाक न हो!

और, इस प्रकार जब हमारी मण्डली जुट जाती, तो 'एक पैसे में बारह मजा' का लुत्फ आता।

शाम होती जा रही थी और हमारा घोड़ा बड़ी तेजी से जहाज-घाट की तरफ दौड़ रहा था।

हमारे आगे-पीछे और भी कितने टमटम जा रहे थे; मगर हमारा ध्यान उधर नहीं था।

बहुत दिनों के बाद माँ का आशीर्वाद मिलेगा, बहनों का प्यार मिलेगा और छोटे-छोटे बच्चों की मीठी-तुतली बातें सुनने को मिलेंगी। मैं यही सब सोच रहा था और मेरे मित्र, न मालूम, कहाँ-कहाँ की गप्पें लड़ा रहे थे।

सहसा!

सहसा............ ...वह देख पड़ी!

स्वप्न के समान, छाया की नाईं, कल्पना की तरह। सजीव;

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

साकार; सदेह।

वही !

वही बिजली का खम्भा; और उसी बिजली के खम्भे से एक प्रति-मूर्ति लिपटी,—जैसे प्राणहीन

उसकी उँगलियों में एक पतली लकड़ी और उस लकड़ी से लटकीं चमेली की दो-चार मालाएं ! गोधूलि की मलिना-वेला में मुझे मालूम पड़ा, मानो कोई तारिका नभोदेश से टूट कर उस कर्म-कलकल पथ पर एकाकार हो गई हो—अनायास, अस्थिर, अप्रतिहत।

मेरी स्मरण-शक्ति को एक बार, एक साथ ही हजारों वाल्ट विद्युत् का धक्का लगा। मेरी चेतना मूर्च्छित हो गई। मैं व्याकुल हो गया।

मेरे साथी आपस में हँसी-मजाक कर रहे थे। टमटम-वाला अपने जमाने का कोई बाजारू गजल दुहरा रहा था।

और, घोड़ा बड़ी तेजी से दौड़ रहा था।

सहसा, मैंने घोड़े की लगाम पकड़ ली।

मैं आगे था, सईस के बिल्कुल पास बैठा। रस्सी थी उसके हाथों में और छीन ली जबरदस्ती मैंने।

और, सहसा मैंने घोड़े की लगाम खींच ली।

कोलतार से पुती, पक्की सड़क पर घोड़ा फिसला, तिलमिलाया और गजों की दूरी तक लड़खड़ा कर किसी तरह गिरते-गिरते बच गया !

टमटम वाला इस आकस्मिक दुर्घटना से भौंचक-सा रह गया और मेरे साथी मेरे पूर्व-परिचित स्वभाव की नवीन पुनरावृत्ति देख, खिलखिला कर हँस पड़े।

मैं बुद्धि-हीन, जड़, पाषाण;

राह-चलते मुसाफिरों ने मुझे बेवकूफ समझा; दोस्तों ने पागल और टमटम वाले ने अलमस्त।

परन्तु, उसने क्या समझा—मैंने नहीं देखा, मैंने नहीं जाना, मुझे नहीं मालूम।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

ओह !—मुझसे मत पूछो।

घोड़ा फिर दौड़ रहा था और मेरे दिमाग में लोगों की खिलखिलाहट रह-रह कर गूँज उठती। मैं अपने को खोने-सा लगता।

और इसके बाद किसी की याद आती। मैं कुछ सोच नहीं पाता कि कल्पना मुझे पटने से हजारों कोस दूर किसी ऐसे टापू में पहुँचा देती जहाँ कुछ नहीं था—केवल शून्य। न कोई मानव, न कोई पेड़ और न कोई पंछी। सिर्फ, समुद्र का भीषण हाहाकार—अनवरत, अनन्त।

फिर तो मेरे ज्ञान का द्वार उन फेनिल तरंगों से इस प्रकार बन्द होता कि न मैं कुछ देख पाता और न कुछ सुन।

खैर जहाज मिल गया।

मेरे साथियों ने पहले मेरे सामान को और पीछे मुझे जहाज में ढकेल दिया।

मैं मौन।

गंगा की चंचल लहरों पर जहाज अपने आरोहियों को लेकर उतरा रहा था, इतरा रहा था; परन्तु, मेरे मस्तिष्क के लोचनों के सामने और ही संसार बसा था—

देहात की दुनिया; मीलों तक फैले हरे-भरे खेत। आमों की बाड़ी। महुओं का बन। बौरों से बसी हुई हवा और फलों से झुकी हुई डालियाँ! आम पक रहे हैं, कोई मेरी राह देख रहा है। मुझे मालूम पड़ा, जैसे किसी अज्ञात व्यक्ति ने अपनी लम्बी-लम्बी बाँहें फैला कर मेरा आलिङ्गन कर लिया।

मेरा समूचा शरीर रोमांच-पुलकित।

और आधी रात के सन्नाटे में जब मेरी गाड़ी मुजफ्फरपुर के आम और लीची के कुंजों से पास कर रही थी, तब मैंने एक सपना देखा।

देखा, मेरे आगे वही फूल-बालिका खड़ी है। चमेली की मालायें सूख गई हैं। बालिका का चेहरा मुरझाया हुआ है और वह रो रही है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

शाम हो चुकी; परन्तु, उसकी खबर लेने वाला कोई नहीं। उसकी उँगलियों से वह तिनका अब भी वैसे ही सटा है और वह अब भी वैसे ही रो रही है सिसक-सिसक कर, फूट-फूट कर !

मेरा वह सपना एक दिन सार्थक हो गया।

घर पहुचते ही सबसे पहले मैंने फूलकुमारी के उन आँसुओं को एकत्र कर लिया। और उन्हे अवसर पाकर एक सूत्र में पिरो दिये।

माला तैयार हो गई।

उसे दुनिया छिन्नमाल कहती है।

मैं भी कहता हूँ।

न जानें, क्यों ?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"तुम्हारे बिना......"

(१)

"तुम्हारे बिना मैं जी नहीं सकूँगा, रमिया !"

आज से ठीक चार महीने पहले, इसी शाम को, किसी ने रामी से ऐसे ही शब्द कहे थे और आज भी शकूर इन्हीं बातों को दुहरा रहा है—"तुम्हारे बिना........"

तुम्हारे बिना,........रामी ने वहीं से देखा, शकूर दरवाजे पर खड़ा है और कह रहा है—"यों कब तक बैठी रहोगी, रामी ?"

रामी बैठी ही रही। न कुछ बोली और न उठी।

"तुम जवान हो, तुम हसीन हो और तुम........रामी, तुम अकेली भी हो !"

सिर्फ तीन दिन पहले, अगर कोई इस तरह रामी को कुछ कहता, तो, क्या रामी यों चुप रहती ? मगर, शायद शकूर का कहना ही ठीक है। रामी जो अकेली है ! और, वह उसकी बातों का मतलब समझती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

रामी पहचानती है शकूर को। चार महीने उस मकान में रह कर भी अगर रामी उस शख्श को नहीं जान पाती, जो तमाम दिन अपनी दूकान में बैठ कर सिलाई की मेशीन चलाता रहता, तो आखिर वह जानती ही क्या ?

ऊपर के तल्ले पर रामी रहती, अपने मालिक के साथ और नीचे का कमरा शकूर ने किराये पर उठा रक्खा था, जिसमें उसके दर्जी की दूकान थी।

जिस दिन इस मकान में, पहले-पहल, रामी आयी, उसी दिन शकूर ने उसे इस दृष्टि से देखा था कि रामी सिर्फ मुस्करा भर उठी थी। और, शकूर को रामी की वह भोली मुस्कान अभी तक याद है।

इन्हीं चार महीनों में शकूर ने रामी के लिये, न जानें, कितने कपड़े तैयार किये होंगे; मगर, सिलाई के पैसे चुकाने वक्त वह सदा गम्भीर होकर कहता—"अरे, भैया !……रहने भी दो। भाभी पर क्या मेरा हक नहीं है ?"

रामी को यह बात जरूर बुरी लगती। लेकिन, वह करती ही क्या ? जगत हँसकर जबाब देता—"अच्छा !"

आते या जाते, कभी शकूर आँखें नचा कर रामी को एक बार हसरत-भरी निगाह से देख लेता और फिर इठलाता हुआ चला जाता। रामी छत पर होती, तो, रेलिङ्ग पकड़ कर झुक जाती और नीचे देखती, बाजार की सड़क पर, खिलौनों की तरह मोटरें और कठपुतली की तरह आदमी। इससे अधिक जानने की उसने न तो कभी कोशिश की और न जान ही सकी।

लेकिन, आज जब शकूर ने जान लिया कि रामी बिल्कुल अकेली है, तब उससे नहीं रहा गया। वह सहमता हुआ रामी के पास आया और बोला—"तुम्हारे बिना,……रामी !"

रामी को क्रोध आ गया। उसने भयानक घृणा की दृष्टि से शकूर को गुरेर कर कहा—"भागो यहाँ से,…कुत्ते !"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

और, शकूर जैसे आया, वैसे ही चला गया।

(२)

तीन दिन हो गये, रामी ने कुछ खाया-पीया नहीं। जब भूख खूब जोर करती, तब, वह पेट के बल चटाई पर लेट जाती और सिसक-सिसक कर रोती। रोते-रोते उसकी आँखें सूज गयी थीं। और, चेहरा गुलाब के मुरझाये हुये फूल की तरह फीका पड़ गया था। फिर भी वह रोती। उसे चुप करने वाला भी तो कोई नहीं था।

लेकिन, कभी था। और ऐसा था कि रामी की एक मुसकान के लिये अपनी जान तक दे देने को तैयार हो जाता। मगर, अब रामी के लिये उन दिनों की याद भर बाकी है। और जो कुछ था, वह सुबह के तारे की तरह शून्य में विलीन हो गया है।

और वह था जगत। गाँव का एक हट्टा-कट्टा, मजबूत और सुन्दर युवक। अभी मसें भींगी ही थीं कि वसन्त की किसी मादक सन्ध्या में जगत रामी की आँखों में सपना बन कर समा गया।

उस गाँव में रामी का ननिहाल था। घर वहाँ से दूर, बहुत दूर। रामी के मामा उसे बहुत चाहते थे। अपनी बेटी से भी अधिक वे उसे प्यार करते थे। और, रामी पर उनका स्नेह इतना अधिक था कि बचपन से ही उन्होंने उसे पाला, पोसा और बड़ा किया और रामी अब बढ़कर चौदह साल की हो गयी थी।

माँ-बाप के बन्धन से मामा का बन्धन कुछ ढीला होता ही है। रामी अपने घर पर रहती, तो इतनी आजाद शायद ही होती। लेकिन, यह जो उसके मामा का घर है और मामा का इतना लाड़-दुलार। रामी बिल्कुल अल्हड़, निर्भीक और उद्दण्ड हो गयी थी।

दिन-भर सखी-सहेलियों के संग खेलना, ऊधम मचाना और गप्पें लड़ाना, यही उसका काम था। रखवाले की आँख बचा कर जमीन्दार के बगीचे की मूँगफलियाँ तोड़ कर खा लेना और सिल्लू भैया के कबूतर के बच्चे को इतने ऊँचे बाँस के मचान पर चढ़कर, चुरा लेना

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

किसी के लिये भले ही साहस का काम रहा हो; लेकिन, रामी के लिये तो यह बाँये हाथ का खेल था।

और, किसी से बात-बात में झगड़ जाना भी, उसके वास्ते उतना ही आसान था, जितना किसी फूल-से सुकुमार बच्चे को उठा कर चूम लेना—"बाबू मेरे !......भैया मेरे !"

सहसा दरवाजे पर किसी के खाँसने की आवाज आयी। रामी ने जलकर कहा—"मूए मरते भी तो नहीं !"

"मैं हूँ, ठकुरानी !" एक अधेड़ आदमी कमरे के अन्दर आता हुआ बोला—"घबराओ मत !"

और, रामी, जो सोयी थी, उठ कर बैठ गयी। चेहरे पर आँसू से गीला घूँघट सरका लिया।

"अरे, इसमें शरम करने की कौन-सी बात है ?" उस आदमी ने कहा—"देखती हूँ, तुम जी भर रोयी हो !"

रामी पत्थर की मूर्ति बनी रही।

"तुमने कुछ खाया-पाया है कि नहीं ? तीन ही दिनों में कितनी सूख गयी हो ! जरा खयाल तो करो। जो होना था, सो हो गया। अब रोने से क्या फायदा ?"

रामी ने अब देखा, यह जो अधेड़ आदमी उसके सामने खड़ा है और जिसके हृदय में उसके लिये इतनी करुणा, ममता और सहानुभूति है, वह और कोई नहीं; उसके मकान का मालिक है !

"आपको क्या मालूम है कि वे कहाँ गये हैं ?"

"ठकुरानी !" उसने कहा—"अगर मैं यह जानता, तो तुम क्या समझती हो कि उसे मैं यों-ही जाने देता ?"

रामी ने सोचा, कितना भला आदमी है !

और, वह कहता गया—"उसके जिम्मे मेरा पिछले दो महीनों का किराया बाकी है ! यह नहीं कि मैंने तकाजा नहीं किया। मगर, बराबर वह टालता गया। और, अब तो तीसरा महीना भी चढ़ रहा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

है। लेकिन, ठकुरानी ! मुझे यह नहीं मालूम था कि जगत सिंह ऐसा निकम्मा आदमी होगा।"

निकम्मा......हाँ, रामी ने सोचा, कितना निष्ठुर था वह। यह भी नहीं विचार किया कि आखिर उसके पीछे रामी की क्या दशा होगी ?

"जगत सिंह गया तो जाने दो, ठकुरानी !......वह फिर कभी लौटेगा नहीं। इन लोगों का यही काम रहता है। मैं उन्हें अच्छी तरह जानता हूँ। तुम दुनिया से अनजान थी; इसलिये धोखा खा गयी। देखो, इधर....ये बाल मैंने धूप में नहीं सुखाये हैं !"

रामी से जब नहीं रहा गया, तब वह सिसकने लगी।

"मैं हूँ, ठकुरानी ! तुम रोती क्यों हो ? चलो मेरे घर। मैं तुम्हें रक्खूँगा। वहाँ तुम संसार का सब सुख पा सकोगी। यहाँ, इस अँधेरे कोने में.......अकेली,......तुम कैसे रह सकोगी ?"

"आप जाइये" रामी ने रोते रोते कहा—"आप तुरन्त चले जाइये। मैं अकेली ही रहूँगी। मुझे उसने अकेली ही छोड़ दिया है। मैं एक बार जी-भर रोना चाहती हूँ। मुझे रोने दीजिये।"

"यह ठीक है, रामी" उसने कहा—"लेकिन तुम्हारे बिना .."

"मेरे बिना, क्या ?" रामी के मुँह से निकल गया। और, वह सूने घर के अँधेरा में भागती हुई बोली—"आप नहीं जाते, तो मैं ही चली जाती हूँ !"

तब, काफी अँधेरा फैल चुका था और तमाम शहर में जुगनू की तरह बिजली की बत्तियाँ जगमग कर रही थीं। और, ऐसा प्रतीत होता था, जैसे दुनिया का सारा अन्धकार प्रकाश के भय से रामी के ही घर में छिप गया हो।

(२)

आसमान में तारे निकल आये हैं। रामी एकटक उन टिमटिमाते हुए तारों को देख रही है। दूर,......दूर आकाश में वे तारे काँपते-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

से दिखायी पड़े। और, उसका मन भी दूर,......बहुत दूर, न जाने कहाँ, भागा जा रहा है। कहीं कोई ओर-छोर नहीं। निस्सीम,.... अनन्त,...अपार,...आसमान जैसे धुँधला, उसका हृदय भी वैसे-ही शून्य, विह्वल, उदास,...

जगत उसके लिये गाँव का ठाकुर था और रामी उसके लिये क्या थी, वह खुद भी नहीं जानती। यों, दोनों में बचपन से जान-पहचान है। कभी आँखों से और कभी इशारे से; कभी तिरछे और कभी सीधे और कभी दाएं और कभी बाँएं दोनों में कितनी बार देखा-देखी हो चुकी है। लेकिन, इस तरह की देखा-देखी का नतीजा क्षण-भर के विनोद को छोड़ कर और भी कुछ रहा हो, ऐसा कहने को जी नहीं चाहता।

लेकिन, जो उत्कण्ठा और कौतूहल रामी तथा जगत के प्राणों में पिपासा बन कर समा गये थे, एक दिन संयोग पाकर वे प्रकट ही हो गये।

खेलते ही खेलते रामी युवती हो गई।......ऐसी युवती, जिसे भय नहीं था, संकोच नहीं था, ज्ञान नहीं था। और, जगत ने भी तब उसे जिस दृष्टि से देखा, उसमें प्रेम का मद था।

मामा के घर से रामी अपने पिता के घर जो कभी साल में एकाध दफे जाती, तो वे उसे वहाँ दस-पन्द्रह दिनों से ज्यादा ठहरने भी नहीं देते। उनकी एकमात्र इच्छा थी कि रामी की शादी वे कर दें और इस सुख तथा सुयश का फल दूसरे को न लेने दें। और, उनकी इसी पवित्र इच्छा की पूर्त्ति के लिये, रामी अपने मामा के घर को चंचल कर रही थी।

और, ब्याह-शादी की बात करते-धरते ही रामी के जीवन का चौदहवाँ फागुन आ गया। हाँ, वह फागुन का ही महीना था। क्योंकि, जमीन्दार के बगीचे में, आमों के टिकोले आ गये थे और उनकी डालियों पर कोयल भी कूकने लगी थी।

रामी के जीवन-तरु पर, यद्यपि, यौवन के वसन्त ने अपना

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

वासन्ती अंचल फैला दिया था; फिर भी, न रामी बचपन को भूल सकी और न बचपन ही रामी को।

और, एक दिन सूरज के डूबते ही रामी चली जमीन्दार के बगीचे की ओर। रोज की आदत ने उसे लाचार कर दिया और पैर आप ही उस तरफ बढ़ने लगे। रामी रोकती, तो कैसे ?

लेकिन, उस दफे रानी की चोरी पकड़ी गई।

बचपन को धोखा दिया जा सकता है। मगर, यौवन को धोखा देना कठिन ही नहीं, असम्भव है।

रखवाले ने उसे देख लिया। रामी छोटी-सी चहारदीवारी का एक टूटा हिस्सा फाँद तो गई, लेकिन इस पार कूदते ही उसकी साड़ी का एक छोर काँटों में बेतरह फँस गया। और, वह भाग नहीं सकी। रखवाले ने उसे पकड़ लिया। पहले तो टिकोले की जाँच-पड़ताल हुई। फिर, रामी को पकड़ कर वह जमीन्दार की हवेली की तरफ ले चला।

रामी को जमीन्दार से डर नहीं। मगर, मामा सुनेंगे, तो क्या कहेंगे ? कैसी लड़की है !.......कल जिसकी शादी होगी, आज उसकी यह शरारत !........और, पड़ोस की वे सहेलियाँ ! छिः ! कौन-सा मुँह लेकर वह उनके सामने जायगी ?

रामी जा रही थी और सोच रही थी। रास्ते में मिल गया जगत। जगत वहीं से आ रहा था, जहाँ रामी जा रही थी। और, उसने पहचान लिया, रामी।

"इसे कहाँ लिये जा रहे हो, भिक्खू ?" जगत ने कौतुक से रखवाले को पूछा।

"सरकार, यह बड़ी बदमाश हो गई है !" भिक्खू बोला — "इसे मालिक के पास लिये जाता हूँ।"

"क्यों, बात क्या है ?"

और, भिक्खू ने जब सारा हाल जगत को सुनाया, तब वह मुस्करा कर, रामी की तरफ देख कर, बोला—"क्यों, तू सचमुच बड़ी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

नटखट हो गई है ?"

"हाँ, सरकार !" रामी के बदले भिक्खू ने जवाब दिया। मगर, रामी फिर भी चुप थी। उसे कुछ-कुछ आशा हो चली थी कि अब शायद छुटकारा मिल जाय। मगर, जगत ने कहा—"हाँ, रे भिक्खू ! इसे जरूर ले जा ? बड़ी शैतान है !"

मानो, उसने रामी के दिल पर अपना हाथ रक्खा और उसने रामी की आँखों में देखा, जैसे वह कह रही थी, पुरुष वास्तव में निर्दय होते हैं !

और, ज्यों-ही भिक्खू सलाम कर आगे बढ़ा, त्यों-ही उसने पुकार कर कहा—"भिक्खू !"

"हाँ !........"

"इसे छोड़ दे !"

"मगर,........" रखवाला कुछ कहना चाहता था।

"इस बार छोड़ दे, भिक्खू ! आइन्दे ऐसा करेगा, तो, जो जी में आये, करना। मगर, इस बार, मैं कहता हूँ, रामी को छोड़ दे !"

"अच्छा,......आप कहते हैं, तो........" भिक्खू ने छोड़ दिया।

जगत ने रामी को खुशी का अन्दाज मन-ही-मन कर लिया, लेकिन वास्तव में रामी न प्रसन्न थी और न अप्रसन्न। वह सीधे घर की तरफ लौट चली। जगत से जो कभी बोली न थी, आज उससे एकाएक धन्यवाद का शब्द कैसे निकलता ? उसकी जीभ न गल कर गिर पड़ती !

"डर भी लगेगा, रामी ?"

रामी चुप।

"मैं पहुँचा दूँ, कहो तो !"

रामी फिर भी चुप।

"अरे, बोलती क्यों नहीं ?"

"आप......" बस, इससे अधिक रामी कह नहीं सकी। और यह भी बड़ी कोशिश के बाद।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जगत ने इसका जो मतलब लगाया, उससे रामी के दिल में, न जानें क्या, आग-सा जलने लगा। वह चुपचाप चल पड़ी और जगत भी उसके पीछे-पीछे कुछ दूर आकर, अपने घर की तरफ मुड़ गया।

अचानक किसी ने दरवाजे पर धक्का दिया। किवाड़ थपथपाये और हाथों से ताली भी दी। फिर, एक धीमी-सी आवाज आई—"किवाड़ खोलो!"

लेकिन, इस बार रामी ने निश्चय कर लिया कि चाहे जो हो, वह किवाड़ नहीं खोलती। ये बदमाश,......उसे रोने भी नहीं देते। क्या समझ लिया है? बाप का घर? इनका मैंने क्या बिगाड़ा है? कुछ चुराया भी तो नहीं?

"तो, तुम किवाड़ नहीं खोलतीं?" काफी इन्तजारी के बाद बाहर से किसी की आवाज आई।

रामी ने भी उसी दृढ़ता में कहा—"नहीं!"

"मैं इसे तोड़ दूँगा।"

"तोड़ दो!"

रामी को याद आया, ये गुण्डे......कल रात भी तो, बारह बजे के वक्त, किवाड़ खटखटाया था और रामी ने जिसे कुत्ता समझा था।......आज भी पहुँच गये? आयें, रामी इनसे बिल्कुल नहीं डरती। जरूरत पड़ने पर वह दिखला देगी कि कोई औरत भी मर्द से मुकाबिला कर सकती है। नाखून से नोच कर,......

सहसा फट-फट कर दरवाजा खुल गया और जुगल झूमता हुआ अन्दर दाखिल हुआ। नशे से उसकी अजीब हालत थी। मुँह से ताड़ी की बदबू आ रही थी और पैर लड़खड़ा रहे थे।

"जानती हो, रामी!" जुगल आते ही बोला—" मैं यहाँ क्यों आया हूँ?"

"जानती हूँ।" रामी उठ कर खड़ी हो गई।

"क्या जानती हो, बोलो तो!"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"कुत्ते की मौत मरने के लिये !"

"नहीं, नहीं, नहीं !" जुगल ने झूम कर कहा—"तुम नहीं समझीं। बिल्कुल नहीं समझीं ! और, अभी समझोगी भी क्या ? कमसिन हो। इसीलिये, तो……" वह धीरे-धीरे आगे बढ़ने की कोशिश कर रहा था।

"ठहरो !" रामी ने तीखे स्वर में कहा—"वहीं खड़े रहो।"

"मैं खड़ा हूँ, रामी !" जुगल ने अपने डगमगाते पैर को सँभाल कर कहा—" तुम्हारा हुक्म मानता हूँ !"

"मेरा हुक्म अगर मानते हो, तो, फौरन यहाँ से चले जाओ !" रामी बोली।

"लो, जाता हूँ……" जुगल वापिस हुआ। किन्तु, दरवाजे पर फिर खड़ा हो गया। और, लालच भरी दृष्टि से रामी को देख कर बोला—"मगर, यों कब-तक……?"

इसका जबाब रामी के पास नहीं था और था भी तो इतना कटु कि उसके असर से जुगल क्या, तमाम दुनिया मर जाती।

"मैं तुम्हें प्यार करने के लिये आया था, रामी !" जुगल बोला—"तुम्हारे बिना……"

फिर, वही शब्द। रामी कितनी बार इसे सुन चुकी है। लेकिन, हर दफे धोखा खा गई है। अब नहीं, अब रामी इस पर विश्वास नहीं करती। यह छल है !……मरीचिका है !……

जुगल डगमग कर रहा था। उसके पैर काबू में नहीं थे। लड़खड़ा कर वह रामी के पैरों पर गिर पड़ा—"रामी,……"

रामी को जैसे साँप ने डँस लिया। वह चिल्ला कर भागी।

"मैं जगत…जगत नहीं…मैं तुम्हें सचमुच प्यार करता हूँ।"

पुरुषों की माया……

रामी जुगल को भी पहचानती है। जगत का दोस्त,…चन्द ही दिनों में दोनों में काफी घनिष्टता बढ़ गई थी। घण्टों बैठ कर कमरे में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

ताश खेलते, बीड़ी पीते, पान खाते और हा-हा-ही-ही करते। तो, क्या यह वही जगत का दोस्त, जुगल है ?

इतना अच्छा तो उस वक्त नहीं था। आज अचानक इतना बदल कैसे गया ?

"मैं अकेला हूँ, रामी ! घर में कोई नहीं। सूना,......बिल्कुल अँधेरा। तुम उस घर को उजेला कर सकती हो। चाहो तो, आबाद कर सकती हो।"

हाँ, रामी ने सुना और समझा भी।

"अच्छा, तो सुबह आओ। मैं जबाब दूँगी।"

"क्या अभी नहीं ?"

"नहीं।"

"तो सुबह आऊँ ?"

"खुशी हो, तो आओ। नहीं, तो मत आओ।"

जुगल खुश होकर चला गया। रामी ने निष्कृति की साँस ली। देखा, आसमान के तारे जैसे सिमट कर आग की ढेर हो गये हों और धू-धू कर उनसे लपटें निकल रही हों।

वह जमीन पर ही लेट रही।

(४)

दुःख के दिनों में भूख-प्यास नहीं आती, फिर नींद ही क्यों आने की तकलीफ करे ? रामी के लिये वह रात पहाड़ हो गयी। करवटें बदल कर सुबह कर दी।

और, वह एक सपना था, जिसे रामी ने देखा।

रामी रोज पानी लाने के लिये घड़ा लेकर नदी के तट पर जाती। कभी साथ में सखियाँ होतीं। कभी अकेली ही। लेकिन, उस रोज वह अकेली थी। और, घड़े एक के बदले दो।

आषाढ़ का महीना था। नदी में वर्षा का नया जल आ गया था और वह उमड़ी पड़ती थी। प्रखर धारा, तरंगों तट-से टकरा कर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

कल-कल छल-छल कर रही थीं।

और, रामी का यौवन भी तो एकदम नवीन था। नदी की धारा के समान ही वेगवान्, उच्छृङ्खल और उद्दाम। आकाश में काले-काले गम्भीर बादल छाये थे। और, वह सन्ध्या उन मेघों के कारण और भी घनीभूत हो गयी थी।

रामी ने दोनों घड़े पानी से भर लिये। एक को कमर पर रक्खा और दूसरे को चाहा कि सिर पर रख लें। लेकिन, सफल नहीं हो सकी। फिर, पहले सिर पर ही एक घड़ा रखकर दूसरे को कमर पर रखना चाहा; मगर, यह भी नहीं हो सका। हार कर, अन्त में खीझ कर, वह निराश होकर घाट की पक्की सीढ़ियों पर बैठ रही और न जानें लहरों को एक-एक कर गिनने लगी या क्या······

नदी के उस पार से वंशी की मीठी आवाज आयी। बाँसुरी के इस स्वर से रामी परिचित है। कई बार वह इसे दूर से और पास से सुन चुकी है। तो, क्या वह जगत है ?

वर्षा की उस धूम-नयन सन्ध्या में बाँसुरी की वह सुमधुर तान, आसावरी के मोहक स्वरों में, रामी के मन में सचमुच आशा भर गई।

वह उत्सुक होकर उसी ओर देखने लगी। जगत होगा, तो,··· एक अज्ञात पुलक से उसका सर्वांग कण्टकित हो गया।

जगत की नाव धीरे-धीरे घाट पर लगी और वह लग्गी फेंक कर जमीन पर कूद पड़ा। देखा, तो, रामी बैठी चुपचाप उस पार की ओर अपलक देख रही है। उसे एक अनिर्वचनीय विस्मय हुआ।

"यहाँ क्या कर रही हो, रामी ?" जगत ने नजदीक आकर पूछा—"घर नहीं चलोगी क्या ?"

"गंगा आयगी !" रामी ने झूठ कहा—"उसी के लिये बैठी हूँ।"

"अगर मैं तुम्हारे घड़े उठा दूँ······रामी, गंगा के लिये कब तक बैठी रहोगी ? शाम हो गयी, चलो।"

अरे, जगत ने क्या कहा ? क्या वह गाँव के ठाकुर से घड़े उठ-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

वायगी ? लेकिन, उपाय क्या ? गंगा तो आखिर उसके लिये नहीं आयगी !

"एक बात कहूँ, रामी !" जगत ने कहा।

रामी चौंकी, कौन-सी बात ? क्या वह उसे सुन सकेगी ? इतना साहस है उसमें ? उसने मौन रह कर जगत को विश्वास दिला दिया कि उसे कोई एतराज नहीं।

उस वक्त यदि जगत कविता कर सकता, तो वह वर्षा की संध्या पर, नदी के शून्य तट पर, कोई सुन्दर रचना कर डालता। लेकिन, न तो रामी के हृदय में काव्य की कोई कसक थी और न जगत ही कवि।

फिर भी गाँव के लोगों में एक अफवाह उड़ ही गयी। जानें, किसी ने देखा या नहीं ? लेकिन, बात फूस के घर में आग की तरह फैल गयी। और, पहले जगत ने उसे सुना। फिर, रामी ने भी।

रामी के जीवन में विशेष कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ। सिर्फ, घाट पर जाना छूट गया। लेकिन, जगत तब भी अकड़ कर चलता रहा।

और, उसके कई दिनों के बाद, एक रोज जगत स्वयं मौका ढूँढ़ कर रामी से मिला और बोला—"तुम्हारे बिना……"

"तो, क्या कहते हो, बोलो।"

"चलो, भाग चलें !" जगत ने चंचल होकर कहा—"यहाँ, इस गाँव में……"

"कहाँ……" रामी व्याकुल होकर बोली।

"किसी दूर, शहर में……जहाँ मैं और तुम,……दो ही आदमी हों, रामी ! न कोई बाधा हो, न कोई बन्धन !"

"सोच कर कहूँगी।"

"सोच कर क्या कहोगी ? जानें, फिर कब मुलाकात होती है ? और, तब तक क्या मैं ?"

और, न मालूम रामी के जी में क्या आया कि उसने कह दिया—"अच्छा !"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"तो, कब ?"

"जब कहो तुम !"

"आज रात को ?"

"अच्छा।"

"तो, ठीक रहा। मैं बारह बजे के लगभग घाट पर तुम्हारा इन्तजार करूँगा। वहाँ मेरी नाव बँधी रहेगी।"

शायद, मामा से जगत अधिक प्रिय लगा, इसलिये रामी मामा को भूल कर जगत के साथ चली गई। सब सोये थे। वह चुपके-से उठी। और, घाट पर जगत से मिल गई।

जगत के आनन्द की सीमा नहीं थी।

अँधेरी रात में नाव जल पर तैरने लगी। आसमान में घनघोर काली घटा छाई थी। डाँड़ के चलने से पानी छप्-छप् कर रहा था। और, दो प्रेमी, धड़कते कलेजे से, किसी अज्ञात दिशा की ओर जा रहे थे।

गाँव में एकबार फिर आँधी आई।

"कलियुग है, बाबा!" किसी वृद्ध ने अपने पके हुए, सन की तरह सफेद बालों के बल पर कहा—"इतनी बड़ी छोकड़ी और कुँआरी रहे ?·······उसीका यह नतीजा है !"

"ना—ना !" एक बुढ़िया, जो अपने जवानी के दिनों में काफी बदनाम रह चुकी थी, बोली—"ननिहाल में भी कोई अपनी लड़कियों को रक्खे ?······ देखा न रामी को, निकल गई घर से। सातो पुश्त लेकर नरक में चली गई। बाप रे, ऐसी भी बेटी ?"

रामी के पिता को जब यह खबर मालूम हुई, तब वे विचलित हो गये। मा जी-भर रोई। मामा ने पुलिस में रपट लिखवाई।

और, युवतियाँ हँस-भर दीं और युवकों को रश्क-भर हुआ, काश······!

और, कुछ नहीं······और, कुछ नहीं !

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

(५)

मौत की भी सुबह होती है।

रामी उठी और दरवाजे को खोल दिया। सूर्य्य की बाल-किरणें उसे गुदगुदा कर हँसाने का विफल प्रयास-सा करने लगीं। लेकिन, रामी तो वह कली थी, जो खिलकर सदा के लिये मुरझा गई थी।

रामी जब इस घर में पहले-पहल आई थी, तब कितनी प्रसन्न थी! जगत उसे कितना चाहता! शकूर दरजी से रोज नये कपड़े बनकर आते। रामकिशुन हलवाई से रोज ताजा मिठाइयाँ पहुँचतीं। पान का एक बीड़ा खत्म होता नहीं कि दूसरा मिल जाता। कभी-कभी जगत के साथ सिनेमा भी देख आती और रास्ते में बाजार भी देख लेती।

मामा के घर पर, गाँव में क्या यह सुख मिलता?

वह सोचती, जगत कितना भला आदमी है! वह जगत को पाकर इतनी खुश थी कि कल की बात उसके विचार में आती ही नहीं!

वह समझती, यहीं आकर अब उसका जीवन पूर्ण हो गया है और, इसके बाद, जैसे कुछ है ही नहीं!

लेकिन, जगत जिस उत्साह और उत्कण्ठा से रामी को यहाँ ले आया था, वह अधिक दिनों तक स्थिर नहीं रह सका। धीरे-धीरे उसमें परिवर्तन होने लगा। आरम्भ के एक-दो सप्ताह तो यौवन और रूप की मादकता में सानन्द बीत गये। लेकिन, इसके बाद स्पष्ट कुछ शिथिलता आने लगी।

जगत ने पाया, गाँव में रामी जो-कुछ थी, यहाँ वह बिल्कुल नहीं है। न वैसी अल्हड़ता, न वह चुलबुलाहट और न वह शोखी। इतना ही नहीं, अब तो जगत रामी में यौवन और रूप के अभाव का भी अनुभव करने लगा। जिस आकर्षण ने चुम्बक बनकर जगत को रामी की तरफ खींचा था, वह कहाँ गया?

एक महीना भी बीत नहीं पाया कि जगत को उचाट-सी होने लगी। अब उसका अधिकांश समय घर से बाहर बीतने लगा। वक्त

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

काटने के लिये नये-नये आदमियों से दोस्ती गाँठनी पड़ी। दिन-भर ताश होता, गप्पें उड़तीं और हँसी-दिल्लगी का बाजार गर्म रहता। और, रात में जगत खा पीकर चुपचाप सो रहता। कभी-कभी शराब भी उड़ जाती और उसके नशे में जगत अण्ट-शण्ट बकने लगता।

यह नहीं कि रामी इन बातों से अनजान थी। लेकिन, रामी का कुसूर इतना ही था कि अब उसमें वह आकर्षण क्यों नहीं रह गया है? वह जगत को बाँध क्यों नहीं पाती है? जब सोचती, तब रामी की आँखों में आँसू आ जाते। फिर खयाल करती, शायद कुछ दिनों के बाद आप-ही ठीक हो जाय!

मगर, वह मर्ज ठीक होने का नहीं। भोली रामी, बेवकूफ मत बन! दिल का जिसने बाजार किया, उससे यह उम्मीद रखना कि वह रहम करेगा, गलत है।

और, एक दिन इसका पता भी रामी को लग गया।

यही जुगल था। रात के वक्त, जब वह सोने जा रही थी, रामी के नजदीक आया। जगत दूसरे कमरे में नशे का आनन्द ले रहा था। इधर जुगल ने अपने पैसे से उसे शराब पिलाना शुरू कर दिया था और इसका अहसान वह रामी से चाहता था।

रामी ने पूछा—"क्या है?"

"आज......" जुगल ने विचित्र मुद्रा में कहा—"जगत भैया ने कहा है......आज मैं ही......मैं तुम्हारे पास......"

रामी सब समझ गयी। तो, क्या सचमुच जगत का इतना पतन हो गया है? अब वह क्या करे?

उसने कहा—"अच्छा, तुम यहीं बैठो। मैं उससे पूछ कर आती हूँ।"

"पूछोगी क्या?" जुगल बोला—"मैं झूठ नहीं कहता।"

लेकिन, रामी चली गयी। जगत को पूछने के बहाने, दूसरे कमरे में जाकर भीतर से, साँकल चढ़ा ली। और, सो रही।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उसी दिन, रामी ने समझा, अब उसके बुरे दिन आ गये। इतने रोज के बाद, पहली बार याद आया, पिता,……माता, ……मामा,……और, यह जगत उसका कौन होता है ?

लेकिन, यह भी तो है। पिंजड़े की चिड़िया जानती है कि इन लोहे की कड़ियों के बाहर खुला आसमान है, और है खुली रोशनी। लेकिन, इसके बाद……?……वह समाज भी तो है, जिसे छोड़कर वह आई है। वह निर्दयी,…पाखण्डी,…और चाण्डाल समाज।

जगत ने जो रुपये लाये थे, वह जब खर्च हो गये, तब उसने रामी के गहनों पर धावा बोला। मगर, वे चाँदी के पुराने कब-तक ठहरते। एक-एक कर वे भी बिक गये। रामी ने चूँ तक नहीं की। करती भी किसके लिये? और, एक दिन वह भी आया, जब लोटा-थाली गिरवी रखने के लिये रामी को मजबूर होना पड़ा।

और, उधर जगत की प्यास मिट चुकी थी। वह प्यास, जो आँख-वालों को अन्धा बना देती है और जिसको सभ्य-संसार में प्रेम के पवित्र नाम से पुकारा जाता है।

(६)

तीन दिनों तक रोने-धोने के बाद आज रामी का जी कुछ हलका था। जो कुछ कसक थी, वह आँखों की राह से बह गयी थी। रात में सोई भी और सुबह में अपने को प्रसन्न भी पाया।

"रामी, ओ रामी!" हँसते हुये जुगल ने प्रवेश किया।

"कौन, जुगल ?" रामी बोली—"आओ। बैठ जाओ।"

आओ, बैठ जाओ, जुगल ने सोचा, यही तो नारी का हृदय है, जिसे पाने के लिये वह व्याकुल है।

जुगल आकर बैठ गया।

"तुम ठीक वक्त पर आ गये।" रामी ने कहा।

"हाँ।" जुगल ने आह्लाद से सिर हिलाया—"हाँ, रामी! मैं आ गया। अब कहो, मेरे सवाल का क्या जबाब देती हो ?"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"और, यह क्या है, जुगल ?" रामी ने कहा—"यह ?"

"यह तुम्हारे लिये खाना लेता आया हूँ।" जुगल ने पत्तों का दोना आगे बढ़ा दिया, जिसे अब तक वह छुपाए हुए था—"आखिर, तुमने देख ही लिया !"......

"मेरे लिये था, तो मैं क्यों न देखती ?" रामी मुस्करा उठी—"मगर, यह तो बताओ, यह है क्या चीज ?"

"कुछ नहीं......दो-चार पूरियाँ हैं, और उतने ही रसगुल्ले !"

"ओह ! इतना सामान......?"

"हाँ, सोचा, रसोई नहीं कर सकोगी, तो यही खा लोगी तुम।"

"लेकिन, मेरा विचार है कि तुम नाश्ता कर लो। मैं खाना पका लूँगी।"

"और, क्या मेरे घर नहीं चलोगी।"

"चलूँगी। जरूर चलूँगी। लेकिन, दिन में नहीं....रात में।"

"रात में ?"

"हाँ, रात में तुम आ न सकोगे ?"

"आ क्यों नहीं सकूँगा, रामी।"

"तो, तुम दस बजे आओ। मैं चलूँगी।"

"छल तो नहीं करती ?"

"नहीं, जुगल !...तुम से भला छल ?" रामी ने हँसकर कहा—"अच्छा, अभी चले जाओ। मैं स्नान करूँगी।"

"मैं पानी भर दूँगा।......तुम कैसे स्वयं......?"

"नहीं, नहीं। मैं कहती हूँ, तुम अभी जाओ। रात में ठीक दस बजे आना। मैं इन्तजार करूँगी।"

जुगल चला गया।

रामी ने सुबह की मीठी-मीठी धूप में भरे यौवन की एक बेसुध अँगड़ाई ली ही थी कि शकूर आ पहुँचा।

"ओ हो ! शकूर !" रामी ने तिरछी चितवन से उसकी तरफ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

देख कर कहा और गरीब शकूर, मानों, कट गया।

"रामी......" शकूर बोला—"ये अंगूर, नासपाती और सन्तरे......"

"मैं बन्दर नहीं हूँ, शकूर !...ओ हो, इतने फल ?"

"मैं मुसलमान.......मेरे हाथ का छुआ खाना तुम कैसे खातीं ? इसी से सोचा, फल ही लेता चलूँ !"

"बेवकूफ हो, शकूर !" रामी ने कहा—"जिसके शरीर के स्पर्श से किसी नारी की पवित्रता अक्षुण्ण रह सकती है, उसे क्या ये फल भ्रष्ट कर सकेंगे ?"

शकूर सकपकाया।

"अच्छा, एक बात पूछना चाहती हूँ, शकूर ! क्या जबाब दे सकोगे ?"

"पूछो।"

"मेरे बिना दुनिया में कितने आदमी व्याकुल हैं ? सच-सच बताना।"

"सिर्फ मैं। और कोई नहीं।"

"और कोई नहीं ?"

"नहीं।"

"लेकिन, उसने भी तो यही कहा था।"

"उसने झूठ कहा था।"

"और, तुम्हारा विश्वास है कि तुम सच बोलते हो।"

"हाँ। मैं खुदा की कसम खाकर कहता हूँ, रामी कि....."

रामी खिलखिला कर हँस पड़ी—सुबूत दे सकोगे ?"

सुबूत ?.......शकूर इस बात का सुबूत क्या दे कि वह रामी को कितना चाहता है ? लेकिन, रामी ठहरी नहीं। वह कहती गयी—"अच्छा, अभी जाओ। रात के दस बजे आना। मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ण कर दूँगी। समझे ?"

शकूर चुप खड़ा रहा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"जाओ। अब खड़े क्या हो ?" और, शकूर चला गया।

उसके गये दस मिनट भी नहीं हुये होंगे कि वह किरायेदार भी कहीं से आ धमका।

"रामी........!"

"मैं समझ गयी।........किराया चाहिये न ?"

"नहीं, नहीं......"

"तब ?"

"हाँ किराया ही,......मगर,........"

"मैं समझती हूँ। बाबू साहब, आप अभी तशरीफ ले जाइये। और, मेहरबानी कर दस बजे रात में यहाँ आइये। मैं आपका किराया चुका दूँगी।"

(७)

उस दिन रात के दस बजे थे। जगत ने धीरे से घर का दरवाजा खोला। रामी सोयी नहीं थी। चौंक कर पूछ बैठी—"कहाँ चले ?"

"कहीं नहीं। जरा जुगल के यहाँ से हो आऊँ।"

"क्या सुबह में नहीं जा सकते ? इतनी जल्दी क्या है ?"

"नहीं, रामी ! आज दो दिनों से शराब नहीं पी है। तबियत नहीं मानती। तुमसे क्या छिपाऊँ ? बिना पिये मुझे चैन नहीं। एक घूँट भी ...."

रामी का कलेजा वेग से धड़कने लगा। शराब के बिना...ओह !

"क्या तुम कुछ दे सकती हो ?"

लेकिन, रामी के पास अब है क्या, जो दे। यौवन और धन, दोनों जगत को लुटा चुकी है। वह भिखारिन है।

रामी चुप रही।

"तुम ठहरो, रामी। मैं जुगल से मिलकर बहुत जल्द लौट आता हूँ।" और, वह धड़-धड़ सीढ़ियों के नीचे उतर गया।

लेकिन, शराब पीकर जगत नहीं लौटा। कहाँ गया, कुछ पता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

नहीं। रामी छाती पर पत्थर रखकर सो गयी।

और, आज रात में जब दस बजे थे, तब उसके आँगन में तीन आदमी काना फूसी कर रहे थे।

"तुम कुछ बता सकते हो, शकूर ! कि वह कहाँ गयी ?"

"भाई ! औरतें बड़ी दगाबाज होती हैं। इनकी जात का क्या कहना ? एक घर में आग लगा कर गयी होंगी कहीं दूसरे घर में आग लगाने। क्यों, जुगल ?"

"जी हां,······ लेकिन, थी वह बड़ी चालबाज औरत। मेरा किराया हजम कर गई।" किरायेदार कहा।

"अजी, तुम्हारे वास्ते तो बहुत कुछ सामान भी छोड़ गई है। मगर, मेरी कपड़े की सिलाई······ या अल्लाह !"

"इन सामानों से तो मेरे पन्द्रह रुपये के बदले पन्द्रह पैसे भी नहीं वसूल हो सकेंगे। अपना उल्लू सीधा कर वह साफ निकल गई।"

"हम दोनों घाटे में रहे।" शकूर ने कहा—"शायद जुगल मुनाफे में रहा हो।"

जुगल, जो अब तक चुप था, बोला—"नहीं, भाई ! बात ऐसी नहीं है, जैसा तुम सोचते हो !"

"क्या ?" शकूर और किरायेदार दोनों एक साथ चिल्ला उठे—"क्या ?"

"मेरी भी एक सब से कीमती चीज लेती गयी है वह, जिसके सामने तुम्हारी चीजों का मूल्य कुछ भी नहीं है !"

"और, वह ?" शकूर बोला।

जुगल ने एक लम्बी साँस ली और अपने सीने को जोर से दबा कर कहा—"मेरा दिल········"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

दण्ड

ओ,····तुम मुझे धकेलते क्यों हो ?····मैं बाहर नहीं जा सकता।

एकबार कहा, हजार बार कहा, मैं फाटक के बाहर हरगिज नहीं जा सकता। तुम मुझे धक्का मत दो।

जानते हो, मैं कितना कमजोर हूँ। ओह, तुम क्यों उसे जानने लगे ? मेरी परेशानियों से तुम्हें मतलब नहीं।····तब क्या तुम चाहते हो कि मैं यहाँ से निकल जाऊँ ?

बड़े साहब ने कहा है····कहने दो। मैं भी उनसे सवाल करूँगा कि आखिर, मेरा कसूर क्या है ?

जिस घर में मैं चौदह साल रहा,····चौदह वसन्त देखे,····चौदह वर्षा देखी और आज···तुम कहते हो कि मैं यहाँ से भाग जाऊँ।

यह कैसे हो सकता है।

बड़े साहब का हुक्म है तो बड़े साहब से कहो कि मैं अब यहाँ से एक इंच भी आगे नहीं बढ़ सकता। जी चाहे, तो वे मुझे फाँसी पर लटका दें···मुझे मंजूर है। परन्तु, यहाँ से अब जाना···ओह, यह नहीं हो सकता।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

इतना बड़ा यह मकान,……हजारों आदमी जिसमें रहते, काम करते,…क्या इसमें मेरा ठिकाना नहीं हो सकता ?…और, वह मेरा कमरा…मेरा अपना कमरा,…देखो, वह तो है ही मेरे लिए। मुझे अपनी कोठरी में जाने दो। बहुत काम करना है।

तुम्हारे साथ रहते-रहते मुझे ममता हो गई है, ओ बदनसीब आदमी !…और, मैं भी जानवर नहीं हूँ।

बाहर, दुनिया में मेरे वास्ते है ही क्या ? एक चमन था, खुशी का…और, वह भी उजड़ गया !

वहाँ कौन है जिससे मैं मिलूँगा ?…अरे, मैं क्या पागल हूँ, जो तुम मेरी तरफ़ इस तरह देख रहे हो ?

नदी में भी एक बार बाढ़ आती है और जल के वेग से जब दोनों किनारों के तमाम कगारे टूटकर गिर पड़ते हैं, तब यौवन के उन्माद में थर-थर काँपती हुई शैल-कुमारी भी जीवन की देहली को लाँघ कर, सुदीर्घ कान्तार और विस्तृत जन-पद में अँगड़ाई लेने लगती है।

एक दिन मेरे जीवन में भी एक ऐसी आँधी आई, जो साधना और तपस्या के समस्त वृक्ष को मूल-सहित उच्छिन्न कर गई, और उसके प्रचण्ड आन्दोलन में मेरा युग-युग का संचित-संयम तृण-खण्ड-सा विलीन हो गया।

तारुण्य के प्रभात-काल से ही यौवन के इस मध्याह्न तक जिसने कठोर व्रत का पालन किया, उसकी साधना का सविता अकस्मात् क्षितिज के इतने नीचे पहुँच जायगा, इसकी कल्पना ही किसे थी ?

किन्तु, यह भी एक संयोग था, जिस पर सहसा मुझे भी विश्वास नहीं होता !…और, न मैं इसके लिए पूर्व से प्रस्तुत ही था।

आज उस घटना को,…दिन नहीं,…मास भी नहीं,…पूरे पन्द्रह वर्ष हो गये। परन्तु, अब भी मालूम पड़ता है, जैसे यह कल की बात हो !

मैं तब स्थानीय इंटरमीडियट कॉलेज के फर्स्ट ईयर में पढ़ता था।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

और, शहर के बिलकुल नजदीक घर होने पर भी होस्टल में रहता; क्योंकि एक तो देहात मुझे यों ही पसन्द नहीं; दूसरे, शहर में रहने से दिल और दिमाग को एक अजीब किस्म की खूराक मिलती, जिसके बिना मेरे रस का पौदा शायद सूख जाता!

अगर मैं सच बात कह दूँ कि मेरे पिताजी की मुझसे बिलकुल नहीं बनती थी तो इससे कोई यह न समझ ले कि मैं वास्तव में उनका द्रोही था। झगड़ा तो वहीं था, जहाँ पिताजी कम-से-कम चार सौ साल पुराने खयालातों की खाई में पैठकर बातें करते और मैं नवीनता के उत्तुङ्ग शैल-शिखर पर चढ़कर उनका जवाब देता। जब वे बेहद गुस्से से पागल होकर कहते—"नालायक, तूने मेरे वंश में कालिख पोत दी!" तब मैं हँसकर उत्तर देता—"पिताजी, आप यदि लायक होंगे, तो सारी कालिख धोकर अपने कुल का मुख उज्ज्वल कर देंगे।"

मैं पिताजी को श्रद्धा की दृष्टि से देखता था; लेकिन मैं अन्ध-भक्त न किसी का रहा और न किसी की महिमा ने मुझे प्रभावित किया। आरम्भ से ही मैं मनुष्य के स्वतंत्र विचारों का पक्षपाती रहा हूँ। इसलिए, जहाँ भी आवश्यकता पड़ी, मैंने पिताजी के अनुचित वचनों के विरुद्ध लोहा लिया।

और, इसका परिणाम भी उचित ही हुआ।

धीरे-धीरे पिताजी का प्रेम, मेरी ओर से, घटने लगा। जब-तब मुझे जली-कटी सुनाने लगे और कुछ दिनों के बाद तो पढ़ाई का खर्च भी देने से इनकार कर दिया। मैंने भी इसकी कोई चिन्ता नहीं की और न कभी रुपयों के लिए उनकी खुशामद की। जब तक होस्टल में रह सका, रहा; इसके बाद शहर में एक सस्ते भाड़े का मकान लेकर रहने लगा।

भरी जवानी जब हाथ जोड़कर सामने खड़ी रहती है, तब दुनिया में परवा ही किसकी?……जो अकड़-कर चलेगा, वह निश्चय ठोकर खायगा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मकान के करीब ही एक ट्यूशन मिल गया। मैट्रिकुलेशन के एक लड़के को पढ़ाना था। पन्द्रह रुपये महावारी और भोजन। मैंने तत्काल स्वीकार कर लिया और महीने की पहली तारीख से पढ़ाना भी शुरू कर दिया।

जनवरी का पहला सप्ताह बीत चुका था। आठ-दस बजे तक मीठा-मीठा जाड़ा, दोपहर को गुलाबी धूप और शाम को ठंडी-ठंडी पछुवा हवा के साथ थोड़ा-थोड़ा आलस्य !

मैं सुबह सात बजे पहुँच जाता और रोज दो घंटे पढ़ाकर नौ बजते-बजते अपने डेरे पर वापस चला आता। खाना होटल में खाता और तब क्लास !

लेकिन, एक दिन मेरी दो आँखों से किसी की दो आँखें मिल गईं और पलकों के पिंजड़े को खोलकर मन का तोता जो उड़ गया, तो फिर लौटा नहीं।

उस दिन मैंने देखा, एक के बदले दो व्यक्ति मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

मैं जिस कमरे में बैठाया जाता, वह बाहर का दालान था। वहीं मेरा विद्यार्थी आता और वहीं पूरे दो घण्टे तक मुझे उसके साथ ए. स्कायर प्लस बी. स्कायर प्लस टूवायस-ए बी. के सवाल को हल करना पड़ता।

कभी अङ्कगणित और ज्यामिति के शुष्क प्रश्नों के उपरान्त, कोई रस की निर्झरी फूटती भी, तो सम्मुख विस्तृत मरुभूमि पाकर आप ही खो जाती।

इसलिए, उस दिन दो व्यक्तियों की उपस्थिति निस्सन्देह मेरे आश्चर्य का कारण हुई और मैं चौखट को लाँघते-लाँघते चंचल हो उठा।

लेकिन, उन दोनों आँखों के तार मेरी पुतलियों से लग ही गये और किसी अदृश्य मकड़ी ने उसी वक्त उन पर पतले-पतले नाजुक धागों की एक जाली-सी बुन दी, जिसे दुनिया प्रेम के नाम से पुकारती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मैं अवाक्-सा खड़ा था उसके सामने और वह बचपन की स्वरूपूर्ण सरलता में पुलकित होकर बोल उठी—"मास्टर साहब ! मुझे पढ़ाइएगा न ?"

"हाँ, सर !" मेरे विद्यार्थी ने भी उसीके स्वर में स्वर मिलाकर कहा—"मा ने कहा है कि अब नीरू भी मेरे साथ ही पढ़ेगी। न सिलाई करती है, न रसोई पकाती है और न घर का ही काम-धन्धा करती है। दिन-भर तमाम मुहल्ले की लड़कियों के साथ खेलती फिरती है !"

मैंने मुस्कराकर देखा, नीरू झेंपती-सी जा रही थी, जैसे फुल्ल-विकसित सरोज-दल पर चन्द्रमा की शीतल किरणें पड़ रही हों।

वह कहता जा रहा था—"खेलने की अपेक्षा यदि नीरू पढ़ेगी, तो वह अच्छा न होगा, मास्टर साहब।"

"हाँ, रे !" मैंने कहा—"तू पढ़ !......अभी से नीरू की इतनी फिक्र ?......ज्यादा बकवाद मत कर।"

उसने किताब का पन्ना खोल दिया।

"नीरू पढ़ेगी या नहीं, इससे तुझको क्या ?" मैं बोला—"ला, इधर किताब तो दे। पाठ याद है न ?"

"मगर नीरू जरूर पढ़ेगी, मास्टर साहब !" उसने कहा—"क्यों नहीं पढ़ेगी ?....मा ने जो कहा है—आपको इसके लिए अलग वेतन मिलेगा....विश्वास न हो, तो कहिए, मैं बुला लाऊँ मा को।"

परन्तु, मा को बुलाने की जरूरत नहीं पड़ी; क्योंकि उन्होंने स्वयं आकर कह दिया कि वह जो निरुपमा उसकी लड़की है, अपने भाई के साथ ही पढ़ेगी। और, मास्टर साहब के वेतन में वृद्धि होगी।

मेरा संकोच अभी तक दूर नहीं हुआ है; पर उस समय तो मैं अत्यन्त लज्जालु प्रकृति का आदमी था। यह नहीं कि औरतें मेरी नजरों से बहुत कम गुजरी हैं; लेकिन, सच बात तो यह है कि किसी औरत के रूबरू खड़ा होना मेरे लिये बहुत मुश्किल है।

और, निरुपमा थी किशोरी। १४–१५ साल की खूबसूरत

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

लड़की। अपने परिवार की लड़कियों को छोड़कर और किसी भले घर की लड़की से मैंने बात तक नहीं की थी। और, आज एक लड़की को पढ़ाना.......

एक ऐसी लड़की को पढ़ाना, जिसकी शादी नहीं हुई हो...जो इतनी सुन्दर हो,....और जो इतनी हँसमुख....अल्हड़....कमसिन....मेरे नेत्रों के सम्मुख अनेक प्रकार की रंगीन कल्पनाएँ फूल-वन में तितलियों-सी नृत्य करने लगीं।

एक अगोचर उत्सुकता ने लज्जा पर बिजय पायी। मुझमें इतना साहस नहीं रहा कि उस प्रस्ताव को अस्वीकार कर देता।

निरुपमा पढ़ने लगी। मैंने देखा, वह बिलकुल अबोध है। अक्षरों से जितनी अनजान है, उससे भी ज्यादा अनजान दुनिया से है। मैं पढ़ाते-पढ़ाते कभी एकटक उसका मुँह निहारने लगता।

काली-काली आँखें...श्वेत पद्म पर जैसे दो प्रेमी भौंरे बैठे हों। और, होंठों पर लालिमा की एक पतली-सी लकीर...लम्बे-लम्बे बाल... निरीह दृष्टि...मैं देखते-देखते तन्मय हो जाता।

अब सुशील पर से मेरा सारा ध्यान खिंचकर निरुपमा पर ही आने लगा। मैंने उसे मनोयोग-पूर्वक पढ़ाना शुरू किया। वह भी थी पढ़ने में तेज। मेरे परिश्रम ने सोने में सुहागा का काम किया। चन्द दिनों की मेहनत से वह पुस्तकों की छोटी-बड़ी सभी बातें मजे में समझने लगी।

इसी बीच एक दिन वह भी आया, जिसकी आशा भी मुझे नहीं थी।

एक दिन जब पेन्सिल देते वक्त मैंने निरुपमा की पाँचों उँगलियाँ अपने हाथों में ले लीं, तब मैंने समझा कि मैं सचमुच उसे प्यार करता हूँ।

वह मेरे कण्टकित करों का व्याकुल स्पर्श पाकर भी निर्विकार रह सकी, यह मानने को मैं तैयार नहीं। मेरे दिल की आग से उसकी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उँगलियाँ अगर जलीं नहीं, तो झुलस जरूर गई होंगी। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मुझे दिसम्बर के पहले नहीं मिला।

मेरे दुर्भाग्य या सौभाग्य से निरुपमा का भाई इम्तिहान में फेल हो गया। इधर मैंने उस पर ध्यान भी बहुत कम दिया था और जितनी चेष्टा की, वह इतनी अल्प थी कि परीक्षा में उत्तीर्ण होना उसके लिये कठिन हो गया।

निरुपमा के पिता का सारा कोप अनभ्र वज्रपात के समान, मेरे सिर पर फट गया। लड़के ने स्वयं पढ़ा हो या नहीं, उसकी असफलता का सम्पूर्ण दोष मेरे हिस्से में आया। मैं दूध की मक्खी की तरह तत्काल निकाल बाहर किया गया।

एक बार मैं फिर असहाय हो गया। बिना पतवार की नाव की तरह भव-सागर में एक तट से दूसरे तट पर टकराने के लिये मैं बाध्य था। जितनी खुशी निरुपमा का शिक्षक बनने पर नहीं हुई थी, उससे ज्यादा दुःख और पश्चाताप नौकरी छूट जाने पर हुआ। सिर्फ एक भूल ने मेरे मुख के आहार को छीन लिया।

खैरियत यह हुई कि निरुपमा के पिता ने मुझे बुलाकर अपना हिसाब साफ कर जाने के लिये कहा। मुझे तो इतनी भी उम्मीद नहीं थी। लेकिन जब उन्होंने मेरे प्रति ऐसी उदारता दिखलाई, तब मैंने भी कृतज्ञता से अवनत होकर अपने रुपये का हिसाब दे दिया।

बड़े दिनों की छुट्टियाँ थीं। मुझे अच्छी तरह याद है, दिनान्त का प्रकाश-हीन अंचल पृथ्वी पर फैल चुका था। उस धुँधले अँधेरे में निरुपमा के मकान की बिजली-बत्तियाँ जगमग-जगमग कर रही थीं।

मैं सोच रहा था, ……निरुपमा। कितनी भोली और कितनी सुन्दर……। लेकिन, मेरी बेकारी … इसका कारण कौन…? दर-दर भटकने के सिवा अब चारा ही क्या है?

यदि मैं उसको ध्यान-पूर्वक पढ़ाता…?…तो, शायद वह पास कर जाता।…लेकिन, मेरा ध्यान…? किसने मेरे ध्यान को चुम्बक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

बनकर अपनी ओर खींचा ?

अवश्य ही वह निरुपमा थी।

हाँ, वह निरुपमा ही थी, जो घर के उस अँधेरे कोने में चुपचाप खड़ी थी और मेरे नजदीक आते ही जिसने मेरा हाथ पकड़कर अपनी ओर खींचा।

विस्मय, कुतूहल और भय के सम्मिश्रित भाव से मेरे प्राण काँप उठे। मैंने कहा—"नीरू !···तुम ?"

"चुप रहो !" मुँह पर उँगली रखते हुए उसने कहा—"चुप रहो !····कोई सुन लेगा।"

श्रावन की जल-धारा से आकुल कंठ,··· मेरे रोएँ-रोएँ में जैसे बिजली दौड़ रही हो,··· मैंने कहा—"जल्दी कहो, क्या कहती हो ?"

"तुम जा रहे हो क्या ?"

"हाँ।"

"अब तो नहीं आओगे ?"

"शायद नहीं।"

"मुझे नहीं ले चलोगे अपने साथ ?"

"तुम ?····" मेरी नस-नस पुकार उठी—"तुम नीरू ?"

यही बात यदि निरुपमा कुछ दिन पहले कहती···मैं लज्जा का बोध कर रहा था,··· तब शायद मैं इतना कातर नहीं होता। परन्तु, सहसा, उस कोने में ··प्रस्थान के समय · जब मैं उदास, भिखारी-सा लौट रहा था,····मेरी फटी झोली में दाता के दो मुट्ठी अन्न-सी

वह,····वह निरुपमा, मेरा रास्ता रोककर खड़ी थी—"मैं तो समझ रही थी कि तुम अभी जाओगे ?"

"मगर, मैं तो चला। तुम्हारे पिताजी ने जवाब दे दिया।"

"लेकिन, मैंने तो कुछ नहीं कहा।"

"आह, नीरू !" मैंने निरुपमा के कमल-कोमल हाथों को अपनी छाती से सटाकर कहा—"नीरू, मैं तुम्हे प्यार करता था !"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"और, अब ?" निरुपमा अधीर होकर बोली—"अब घृणा ?"

"नहीं नहीं; नीरू !" मैंने विह्वल होकर कहा—"मेरी कल्पनाओं का स्वर्ग ही उजड़ गया।"

"तो, क्या तुम मुझसे प्रेम नहीं करते ?"

"करता हूँ, नीरू !...पर, ..."

"पर..." बात काटकर निरुपमा बोली—"पर डरते हो ? ...... समाज से, छिः !"

"पिताजी ने मुझे ठुकराया; दुनिया ने मुझे भुला दिया; तुम्हारी शरण में गया, तो अब तुम्हारे पिता ने भी दुत्कार दिया ! मैं अभागा हूँ, नीरू !...मुझे जाने दो।"

"मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी।...तुम मुझसे विवाह कर सकोगे, मनोहर !" उसने मेरे गले से लिपटकर कहा—"मैं विधवा हूँ !"

"विधवा !" किसी का घर न होकर अगर वह पार्क होता, तो निश्चय मैं चिल्ला उठता—"नीरू !......तुम विधवा हो ?, ...ओह, नीरू !...नहीं, नहीं !"

"मुझे इस नरक से ले चलो, मनोहर ! मैं यहाँ तुम्हारे बिना तड़पकर मर जाऊँगी।"

"ठहरो !" मैंने कहा—"नीरू ! तब नहीं, तो अब मैं तुम्हें अपने साथ ले चलने को तैयार हूँ। मगर अभी नहीं। जरा ठहरो।"

"कब तक ?"

"कल मैं आऊँगा। तुम्हारे पिताजी से सारी बातें खुलासा कहूँगा। मैं उम्मीद करता हूँ कि वे मेरे प्रस्ताव को जरूर मान जायँगे।"

"तो, कल आओगे न जरूर।" निरुपमा बोली—"नहीं, नहीं, तुम मुझे धोखा देते हो। मैं अभी चलने को तैयार हूँ। पिताजी तुम्हारी बात नहीं मानेंगे।"

"मैं तुम्हारे पिताजी को जानता हूँ, नीरू। वे आधुनिक विचारों के मनुष्य हैं। तुम्हें तकलीफ देना वे हरगिज पसन्द नहीं करेंगे। इतनी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अधीर मत हो।"

भीतर हाल में सहसा खटके का शब्द हुआ, शायद किसी ने बिजली की स्विच दबाई और मैंने निरुपमा का हाथ धीरे-से हटा दिया। वह सिसक-सिसककर रोने लगी। मैंने देखा, उसकी आँखों से आँसू के कई कतरे मेरे कन्धों पर गिर पड़े। जाड़े की शाम में, मेरे बदन पर, वे गरम-गरम बूँदें, विगलित होकर फैल गईं। मैं एक विचित्र प्रकार की भावनाओं के अथाह समुद्र में डूबने-उतराने लगा।

कल मैं दोपहर में निरुपमा के पिता से मिला।

क्रांति के उद्धत कीटाणु मेरे मस्तिष्क में प्रवेश कर चुके थे और अब मैं सारे संसार से युद्ध करने के लिए तैयार था।

मैं स्वयं लापरवाह था। निरुपमा की कातर अवस्था ने मुझमें नवीन साहस और शक्ति का संचार कर दिया था। मैं उसके लिए सब कुछ करने को उद्यत था।

निरुपमा,...जिसने अभी जीवन का कोई सुख नहीं देखा,...निरुपमा, जिसने सौभाग्य का मुख भी नहीं देखा....क्या निरुपमा विधवा है?

अगर, निरुपमा विधवा हो सकती है, तो आखिर सधवा कौन है?

नहीं, नहीं। निरुपमा कुमारी है... ...चिर कुमारी,....अनाघ्रात पुष्प-सी पवित्र, चाँदनी-सी उज्ज्वल और दक्षिण-पवन-सी अकलंक।

संसार को क्या अधिकार है कि वह उसको जीवनभर वैधव्य की कठोर अग्नि में जलावे? मैं उसे जलने नहीं दूँगा।

मुझे बचाने दो।

परन्तु जिस उत्साह से मैं निरुपमा के पिता से मिला, उस उत्साह और तत्परता से उन्होंने बातचीत नहीं की। घण्टों वाद-विवाद के बाद वे बोले—"मनोहर बाबू, आप जो कहते हैं, ठीक है। किन्तु, अभी निरुपमा के विषय में मैं कुछ निश्चय नहीं कर सकता। आप कृपया क्षमा करें।"

मुझे कमरे में अकेला छोड़कर वे दोपहर का भोजन करने चले

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गये। निरुपमा खड़ी थी, चिक की आड़ में। मुझे अकेला देखकर पास आई और बोली—"क्या हुआ ?"

"तुम सुन ही चुकी हो !"

"फिर, उपाय ?"

"अब चलो, मेरे साथ। मैं ले चलूँगा।"

"क्या भागकर ?"

"हाँ" मैंने कहा

"किन्तु, मनोहर !......मैं अब भाग नहीं सकती। मैंने विचार बदल दिया है। तुम मा से कहो। वह अवश्य सम्मति दे देंगी और उसके बाद पिताजी को मनाना कुछ मुश्किल नहीं होगा।"

मैंने कहा—"अच्छा।"

और, मा से कहा—"मा !"

मा आँगन में बैठी तकली कात रही थीं। रूई की छोटी-छोटी पुलिया आगे पड़ी थीं। मा था तन्मय।

तर्क-शास्त्र का जो भी अध्ययन किया था, कालेज की वह सारी शिक्षा मैंने मा को समझाने में खर्च कर दी। फिर भी मा नहीं मानतीं, अगर निरुपमा उनके आगे पैर पकड़कर नहीं रोने लगती !

ज्यों ही मा ने स्वीकृति दे दी, त्यों ही हमारा विश्वास हो गया कि पिताजी भी भाग नहीं सकते।

अन्त में यही हुआ भी। अनुमान सच निकला। मा के आगे पिताजी को हार खानी पड़ी। वे विवश हो गये।

वह शुभ मुहूर्त था या अशुभ......कह नहीं सकता; परन्तु, निरुपमा का विवाह मेरे साथ हो गया। मैं सुखी था, उसको पाकर। और, वह संतुष्ट थी मुझे पाकर।

लेकिन, मैंने फिर गलती की। और, वह गलती ऐसी थी, जिसका सुधार नहीं हो सका। एक विधवा से विवाह कर मैंने कोई पाप नहीं किया। परन्तु, एक उमंग से भरी किशोरी का, किसी अकिंचन के हृदय

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

से सम्बन्ध स्थापित कर निश्चय ही मैंने गुरुतर अपराध किया, जिसका दण्ड मुझे मिला''''और, भयानक रूप से।

स्वभाव से ही मैं भावुक था'''और, इतना भावुक''' कि, जब निरुपमा विधवा को मूर्ति में मेरे सामने आई, तब वह उससे भी अधिक सुन्दर प्रतीत हुई, जब वह एक कुमारी की प्रतिमा में पहलेपहल मुझसे कह उठी थी—"मास्टर साहब!"

एक विधवा को अपने हृदय की अधीश्वरी बनाकर जितना आनन्द मुझे हुआ, उतना ही दुःख अपनी अकिंचनता पर,'''जो अब पल-पल पर मुझे सर्वनाश के गर्त्त में ढकेल रही थी।

पुत्र के नाते मेरा यह कर्तव्य था कि पिताजी को इस विवाह की सूचना दूँ!''''''और, मैंने एक पत्र लिखकर इस बला को टाल भी दिया। परन्तु, जैसी उम्मीद थी,'''वैसा ही फल भी मिला। पिताजी को हर्ष तो हुआ ही नहीं, उल्टे उन्होंने मुझे अपनी पैतृक सम्पत्ति से भी हाथ धो लेने की सूचना दी।

मैं निरुपमा को लेकर अपने उसी किराये के मकान में चला आया। और, वहीं किसी तरह जिन्दगी के दिन बिताने लगा।

परन्तु, प्रश्न तो इतने ही से हल नहीं हो जाता!

सेकेन्ड इयर में मैं फेल हो गया।

मैं निर्लज्ज''''निरुपमा के गहने बेचकर परीक्षा की फीस दी थी। दो-चार महीनों का खर्च भी उन्हीं के बल पर चलाया। निरुपमा ने कभी एतराज नहीं किया।

"आखिर, हैं ये किस काम के?" वह सदा यही कहती—"मेरी जान बेचकर भी यदि तुम प्रसन्न रह सको, मनोहर!''तो, मैं अपना जीवन सफल समझूँगी।"

परन्तु, मेरी तकदीर की गंगा उस वक्त उल्टी बह रही थी। इधर-उधर के सभी रुपये जब खतम हो गये, तब मैं मारा-मारा फिरने लगा। बेकारी'''भीषण,''''दुर्दिन ने महाकाल का रूप धारण कर लिया। मैं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उसके भूखे पेट में जली हुई मछली की तरह तड़पने लगा।

तब एक दिन निरुपमा के पिता ने मुझे बुलाकर कहा—"देखो बाबू, इसी से मैं डरता था। आजकल के लड़कों में एक यही सबसे बड़ा ऐब है कि वे जमाने का रुख देखकर नहीं चलते!"

फिर भी मैं हार मानने को तैयार नहीं था।

"अगर तुम टाइपिस्ट का काम सीख लो, तो मैं तुम्हें अपने आफिस में रख लूँ! लेकिन, जल्दी करो, तब······नहीं, तो एक की जगह एक सौ उम्मीदवार लड़ने-कटने को उतारू हो जाते हैं!"

"एक टाइपिस्ट?" मैंने खिन्न होकर कहा—"मगर मुझे तो इसका अभ्यास ही नहीं।"

"खैर। जो तुम्हारी इच्छा। लेकिन मेरा खयाल है कि अब भी तुम सुधर सकते हो।"

पर मुझे कहने की आवश्यकता नहीं पड़ी; क्योंकि स्वयं निरुपमा ने ही साफ-साफ कह दिया कि तुम उनके आफिस में एक अदने टाइपिस्ट होकर नहीं रह सकते।

"तो, क्या हो?" मैंने पूछा।

"मुझे अपने घर पर ले चलो। मैं वहीं रहूँगा।"

"लेकिन, वहाँ···पिताजी!"

"कोई चिन्ता नहीं। यह मेरा काम है कि मैं उन्हें प्रसन्न कर लूँ!"

"परन्तु, मुझे सन्देह है कि तुमसे या मुझसे वे कभी इस जीवन में प्रसन्न हो सकेंगे। वे तो मेरा मुँह भी नहीं देखना चाहते।"

"किन्तु, मेरा मुँह देखकर वे तुम पर भी खुश हो जायँगे!"

"क्योंकि, तुम हो ही इतनी सुन्दर कि···" दुःख में भी मैं मुस्करा पड़ा।

"बस, बस!" निरुपमा ने कहा—"मुझे ले चलो। मैं वहीं रहूँगी। तुम्हारी जान का भी छुटकारा हो जायगा। और, मैं कहती हूँ, तुम अभी पढ़ो। आजाद रहोगे तो निश्चिन्त हो लिख-पढ़ सकोगे।"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

इच्छा के विरुद्ध भी मैंने निरुपमा का अनुरोध मान लिया। एकबार प्रार्थना की जाय,''''देखें, क्या होता है ? पूजा से पाषाण का हृदय भी द्रवित हो जाता है, फिर पिताजी तो मनुष्य हैं'''मनुष्यों में परिवर्तन होता ही रहता है। शायद, मेरी यह अवस्था देखकर उनके विचार बदल जायँ !

मैं गाँव गया। पिताजी से मुलाकात की। यदि उन्हें यह मालूम होता कि मैं, मनोहर, उनका नालायक बेटा, उनसे भेंट करने के लिए आया हूँ, तो वे हरगिज मुझे अपने नजदीक आने नहीं देते। लेकिन, मैं जो एकाएक उनके आगे लट्ठ की तरह खड़ा हो गया।

"अब क्या इरादा है ?" उन्होंने एकबार सिर से पैर तक मुझे देखा और सहसा कुर्सी से उछल पड़े—"अरे, धनुआ'''इधर तो आ।"

मैंने पिताजी के चरण पकड़ लिये—"मैं क्षमा चाहता हूँ, पिताजी ! मेरा अपराध क्षमा करें। मैं आपका पुत्र हूँ। धनुआ को बुलाने की जरूरत नहीं। मैं तकरार करने नहीं आया हूँ।"

"मैं ऐसे पुत्र को कदापि क्षमा नहीं कर सकता।" वे गरज कर बोले—"और, तुम मेरे पुत्र कैसे ?''मेरा पुत्र किसी वेश्या से शादी नहीं कर सकता।"

निरुपमा आई थी मेरे ही साथ, परन्तु मैं उसे जान-बूझकर ड्योढ़ी पर छोड़ आया था। पिताजी का भीम गर्जन सुनकर वह दौड़कर आई और उनके पैरों से लिपट गई—"पिताजी, मैं वेश्या हूँ''परन्तु, इन्हें कुछ मत कहिए। इनका कोई कसूर नहीं। जैसे आपके घर में कुत्ते-बिल्लियाँ आपके टुकड़ों पर जीती हैं, वैसे ही मुझे भी समझिए।"

अब तक पिताजी के क्रोध का पारा मौत की डिग्री से ज्यादा बढ़ चुका था। उन्होंने निरुपमा को दूर फेंक दिया, जैसे कोई साँप से पैरों को छू जाने पर झिटक देता है और बोले—"मेरे यहाँ कुलटाओं के लिए स्थान नहीं। जा, मेरे सामने से दूर हट। नहीं, तो मैं अभी नौकरों को बुलवाकर तुम दोनों को हाते से बाहर निकलवाता हूँ।"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"अरे!" और वे चिल्लाये जोर से—"धनुआ है, रे!"

मैंने निरुपमा को जमीन से उठाकर कहा—"चलो।" लेकिन, वह उठी नहीं। वहीं सिसक-सिसककर रोने लगी।

अब मेरे भाव भी बदलने लगे। प्रतिहिंसा की भावना मुझे पागल बनाने लगी। सर्प को आघात लगा, और अब वह भी विष उगलना चाहता था कि……

कहीं से झपटती हुई आई मा। स्त्री का हृदय,……मोम का जो ठहरा, तो कहीं से गर्मी लगी……और वह पिघल गया। जैसे, वैशाख की प्रचंड धूप लगने पर पर्वत-शिखर की तुषार-माला।

पिताजी गुस्से से आग-बबूला होते ही रहे कि मा ने निरुपमा को उठा लिया—"बेटी, इधर आ!"

बहुत दिनों के बाद निरुपमा ने प्यार का यह मीठा शब्द और किसी कोमल हृदय का यह मधुर स्पर्श पाया था। वह करुणा से और द्रवित हो गई। अभी तक जो आग भीतर-ही-भीतर सुलग रही थी, एक बार धधक उठी और वह मा की छाती से चिपटकर, फूट-फूटकर रोने लगी।

उधर घृत में जो आहुति पड़ी, तो ज्वाला प्रखर हुई। परन्तु मा ने उसमें इतनी अधिक शीतलता डाल दी कि वह एकबार ही ठंढी हो गई।

रात में पिताजी तथा मा ने मिलकर हम दोनों के भाग्य का निपटारा कर दिया। मैं फिर से कालेज में नाम लिखाकर पढ़ूँ और निरुपमा घर ही में रहे, मा के संरक्षण में। लेकिन शर्त यह थी कि मैं पिताजी के विरोध में कोई भी ऐसा कार्य न करूँ, जिससे उनको किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक कष्ट हो!

अवश्य ही इस सन्धि में मा का विशेष हाथ था। नहीं तो हठी पिताजी कब राजी होते?

मैं निरुपमा को मा की सेवा में छोड़कर फिर शहर में चला आया। अभी कालेज खुला नहीं था। जून का महीना खत्म हो रहा था। मैंने अपने उसी पुराने मकान में डेरा डाला।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

लाञ्छना सहकर भी अब मैं एक तरह से निश्चिन्त था। निरुपमा सुखी थी, मुझे बल इसी से मिलता। अब मैं स्वतंत्र था।

परन्तु, इसी बीच एक दुर्घटना हो गई। एक राजभक्त पिता का पुत्र होकर खद्दर पहनना और स्वराज्य की चीत्कार मचाना उतना बड़ा दुष्कर्म नहीं था, जितना बड़ा प्लेटफार्म पर खड़े होकर हजारों जनता के सामने राज-द्रोह की स्पीचें देना।

सो एक दिन मैंने वह भी किया।

असहयोग-आंदोलन पूरे आवेग में था। जगह-जगह गिरफ्तारियाँ हो रही थीं। बड़े-बड़े नेता जेल में ठूस दिये गये थे। चारों तरफ दमन की अग्नि भयंकर रूप से प्रज्वलित थी और उसमें देश के नौजवान पतिंगे की तरह बलि हो रहे थे।

मेरे जी में जो जोश का बादल उमड़ा, तो मैं भी एक दिन बिजली की तरह गरज उठा और विद्रोह के जुर्म में मुझे भी अन्य सत्याग्रहियों की तरह एक साल की कड़ी कैद और एक हजार रुपये जुर्माने की सजा सुना दी गई। जुर्माना नहीं देने पर छै महीने और।

जेल तो मैं खुशी-खुशी चला गया; परन्तु जुर्माने की रकम पिताजी से वसूल नहीं हो सकी। उन्होंने साफ-साफ सरकार को लिख दिया, वह मेरा बेटा नहीं, जो गवर्नमेंट के खिलाफ कोई भी नाजायज कार्रवाई करे। और, इतना ही नहीं ...... उन्होंने तत्काल एक दस्तावेज लिखकर मुझे पैतृक अधिकार से भी सदा के लिए वंचित कर दिया।

यदि इतना ही वे करते...तो मेरे लिए कोई चिंता का कारण नहीं था। परन्तु उन्होंने......

उफ !...उन्होंने वह पिशाच का काम किया, जो एक मनुष्य के लिए घोर लज्जा-जनक...बीभत्स...कुरूप।

मेरे प्रति अपने प्रबल क्रोध का बदला वे उस निरीह प्राणी से लेने लगे, जो वहाँ उनके घर में आश्रित था। एक अभागिनी,...अबोध,...सीधी,...वह गाय-से ज्यादा निरीह थी।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

और, वह थी निरुपमा।

निरुपमा को तरह-तरह की तकलीफें दी जाने लगीं, और यदि मा उसका पक्ष लेतीं, तो उन्हें भी बुरी तरह फटकारें सुननी पड़तीं।

मुझे अच्छी तरह याद है, जिस दिन जेलर को जरा-सी बात पर पीट देने के कारण मुझे ३० बेतों की सजा मिली थी, उस दिन पिताजी के यहाँ कलक्टर साहब की दावत थी और सरकार ने उन्हें रायबहादुरी का खिताब दिया था।

वह दिन भी मुझे अच्छी तरह याद है, जिस दिन घर से चलते वक्त निरुपमा ने आँखों में आँसू भरकर पूछा था–"अब कब आओगे ?"

"अरे, मैं जाता ही कहाँ हूँ।" मैंने कहा था—"छिः ! रोती हो ?···चुप रहो।"

रात के गम्भीर सन्नाटे में, चोरी से, लगभग एक मील तक वह मेरे पीछे-पीछे आई थी। कैसा था उसका मुख-मण्डल। चन्द्रमा पीपल के पेड़ पर जैसे ऊँघ रहा था और पास ही जंगल में सियार हुआ-हुआ कर चिल्ला उठे थे।

वह डरकर मेरे शरीर से लिपट गई थी। और, तब मैंने कितना समझा-बुझाकर उसे फिर घर पर पहुँचा दिया।

वह बार-बार कहती ही रही—"जल्द आना !" और, मैं जल्द आने का आश्वासन देते-देते बाहर निकल आया था।

लेकिन, डेढ़ साल की सजा भुगतकर जब मैं घर पर पहुँचा, तो बाहर धनुआ से भेंट हुई। वह बैठा गाँजे में दम लगा रहा था। एक कश ली थी, और दूसरी की तैयारी कर ही रहा था कि मैं फाटक के अन्दर दाखिल हुआ।

"कौन है, रे !" वह बोला—"तू मुझे पहचानता नहीं जो इस तरह लाट साहब के ऐसा अकड़ कर जा रहा है।"

"धनुआ !" मैंने कहा—'मैं तुम्हें पहचानता हूँ। मुझे जाने दो।"

"ओ-ह-हो" आवाज से पहचान कर धनुआ ने सलाम किया

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उठकर—"छोटे बाबू, इतने दिनों तक···आप कहाँ थे छोटे बाबू ? यह बढ़ी हुई दाढ़ी, लम्बे बाल, रूखे-सूखे और उदास चेहरा। वहाँ नाई-वाई क्या नहीं था ?···जो, आप···"

"धनुआ !" मैंने जल्दी में कहा—"मैं बहू से मिलना चाहता हूँ। बताओ, वह कैसी है ?"

"अरे, बाबू !" उसने कहा—"उससे क्या मिलना ! ···वह तो एक दिन···"

"हाँ, हाँ···कहो। बात क्या है ?"

"वह एक दिन,····बाबूजी !" उसने कहा—"आप नाराज तो न होंगे ?" उसने दाँत निपोड़ दिये।

"जल्दी बोल !" आतुरता-भरी आशंका से मैंने कहा—"धनुआ !"

"उस दिन मालिक ने जरा-सा कहा और वह घर से भाग गई !"

"नहीं-नहीं। ऐसा नहीं हो सकता। सच बता, धनुआ !···नहीं, तो··देख !" मैंने आँखें गुरेर कर कहा—"इस वक्त मैं खूनी···"

वह मेरी आँखों में बेशुमार खुशी देखकर सहम गया।

"बाबू !" उसने कहा—"आपके जाने के चन्द रोज बाद ही यहाँ उत्सव हुआ। बड़े-बड़े हाकिम आये थे। सैकड़ों मोटरें यहाँ से वहाँ तक लगी थीं। खूब जलसा, गाना,··बजाना,···नाच-रंग···"

"अरे, मैं पूछता हूँ आम और तू बकता है इमली !···शैतान,···

"न मालूम, क्या हुआ कि बहू भाग गई !" उसने कहा—"नहीं, नहीं; पीछे सुना कि मालिक ने उसे लोहे की छड़ से पीटा था और पीठ पर गरम लोहे का तवा··बाबू !···मालिक ने उसी रात बहू को घर से बाहर निकाल दिया !"

"और, तब ?"

"वह चली गई···न-जाने, कहाँ गई ?" सुनते ही मेरा खून खौलने लगा। तमाम बदन में जैसे आग लग गई। क्रोध से थर-थर काँपता हुआ मैं सीधे दालान में घुस पड़ा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

आज, मुझे किसी का तिल-मात्र भय नहीं था। अगर काल भी मेरे सम्मुख खड़ा होता, तो मैं घूँसों से उसके दाँत तोड़ देता···

ओह, ऐसा भी पिता !···किस पाखण्डी ने कहा है कि "अनुचित-उचित बिचार तजि, जो पालहिं पितु बैन !" मैं अन्याय नहीं बर्दाश्त कर सकता। और, ऐसा अत्याचार,···एक स्त्री के ऊपर ?

आखिर, उसका अपराध ?

मैं ऐसे पिता को···ऐसे पिता को···उफ !···पिता नहीं, प्रेत,···यम,···राक्षस ! मैं ऐसे पापी पिता का मुँह भी नहीं···उफ ! उफ !!

पागल के सामान मैं अपने उस नारकीय पिता के सामने खड़ा हुआ। आज ऐसे पापी को पिता कहते भी मुझे लज्जा आती है।

सहसा मुझे सामने, रुद्र-रूप में देखकर पहले तो वह सहमा पीछे बिगड़कर बोला—"फिर तू आ गया ?"

"हाँ" मैंने दृढ़ता से कहा।

"क्यों ?" उसने कहा—"मैंने तो तुम्हें बुलाया नहीं था ?"

"तेरी करतूतों ने मुझे बुलाया, तूने नहीं तो···" मैं बोला—"ओ, नरक के कीड़े !"

"जबान सँभाल कर बोल, बेहया !"

"आज मैं तेरा काल बन कर आया हूँ।" मैं आगे बढ़ा।

उसने भयभीत होकर पुकारा—"अरे धनुआ !"

"धनुआ के बच्चे !" मैंने उसकी दोनों कलाइयाँ मुट्ठी में पकड़ लीं—"बोल, निरुपमा कहाँ है ?"

"मैं क्या जानूँ ?" उसने कहा—"वह कुलटा थी···भाग गई किसी यार के साथ। मैंने तो तुम्हें पहले ही कहा था कि वेश्या के साथ शादी करके तुमने अच्छा नहीं किया !"

"पापी !" "मैंने मेघ के समान गरज कर कहा—"चाण्डाल ! झूठ बोलता है ! एक निरीह प्राणी की हत्या करते तुम्हें दया नहीं आई···कसाई कहीं का !"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"अच्छा, अपनी करनी का फल भुगत ले !" कहकर मैंने उसके दोनों हाथ-पैर कसकर कुर्सी से बाँध दिये ।

क्षुधित व्याघ्र को सामने गुर्राते देखकर जिस प्रकार आहत हरिण भय से आँखें मूँद लेता है उसी प्रकार उसने साक्षात मृत्यु को सम्मुख देखकर नेत्र बन्द कर लिये ।

मैंने टेबुल पर से राइफल उठायी । इतमीनान से उसको भरा और फिर धाँय ···

धाँय !

उधर लहू से लथपथ लाश तड़पने लगी और इधर मैंने स्वेच्छा-पूर्वक आत्म-समर्पण कर दिया ।

कोर्ट में खुल्लमखुल्ला मैंने अपना अपराध स्वीकार किया और··· चौदह साल की सजा···कालापानी !···मुझे मिला पुरस्कार में ।

चौदह साल···जरा खयाल तो करो. लम्बे-लम्बे चौदह साल, जिसमें न रविवार, न होली, न ईद, और न दीवाली ···मैंने जेल में बिताये हैं।

मुझे उन सीकचों से मुहब्बत हो गई है । मुझे हथकड़ियाँ भाती हैं । मुझे बेड़ियाँ अच्छी मालूम पड़ती हैं । मेरे सामने का यह, डेढ बित्ते का आकाश, बड़ा सुहावना लगता है ।

मैं बाहर जाकर क्या करूँगा ? एक-एक ईंट, एक-एक दीवाल,···· जेल का एक-एक कण मुझे अपने में बाँधना चाहता है ।

मैं इसे छोड़कर कैसे जा सकूँगा ?····मुझे इसी में रहने दो । मैं यहीं ... मैं जेल में ही मरना चाहता हूँ ।

SPS
891.433 R 77 A
15668
Srinagar.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

कवि श्री आरसी प्रसाद सिंह लिखित
अन्य रचनाओं का संक्षिप्त परिचय

१. आरसी

कविताओं का विशाल संग्रह, जिसमें कवि की लगभग ९०० कविताएं प्रकाशित हैं। मूल्य १५) पन्द्रह रुपये।

२. संचयिता

'आरसी' के बाद, कवि की रचनाओं का यह दूसरा संग्रह है, जिसमें प्रायः ५०० कविताएं छपी हैं। मूल्य ५) पाँच रुपये।

३. कलापी

सर्व-प्रथम काव्य-ग्रन्थ। मूल्य २॥) ढाई रुपये।

४. कालरात्रि

यह कहानियों का संग्रह है, जो सभी दृष्टि-कोणों से हिन्दी के कथा-साहित्य में एक विशिष्ट स्थान का अधिकारी है। मूल्य २) दो रुपये।

५. नयी दिशा

हिन्दी-कविता को एक नयी दिशा, की ओर इंगित करने वाला यह काव्य-ग्रन्थ अभी-अभी प्रकाशित हुआ है। मूल्य १॥) डेढ़ रुपये।

६. जीवन और यौवन

तरुणों के प्राणों में उत्साह, जीवन और यौवन का मंत्र फूँकने वाली कविताओं का संग्रह। मूल्य १।) सवा रुपये।

७. चंदा मामा

इस संग्रह में कवि की बालोपयोगी रचनाएं प्रकाशित हुई हैं। मूल्य १) एक रुपये।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE.

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE